हिन्दी
6
बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय
हिंदुत्व का दर्शन

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड–6

हिंदुत्व का दर्शन

बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल, 1891 परिनिर्वाण 6 दिसंबर, 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 6

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय

खंड 6

हिंदुत्व का दर्शन

पहला संस्करण : 1994
दूसरा संस्करण : 1998
तीसरा संस्करण : 2013 (जनवरी)
चौथा संस्करण : 2013 (फरवरी)
पांचवां संस्करण : 2013 (अप्रैल)
छठा संस्करण : 2013 (जुलाई)
सातवां संस्करण : 2013 (अक्टूबर)
आठवां संस्करण : 2014 (फरवरी)
नौवां संस्करण : 2016
दसवां संस्करण : 2019 (जून)
ग्यारवां संस्करण : 2020 (अगस्त)

ISBN :978-93-5109-155-4

आवरण परिकल्पना : डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.

पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

ISBN (सेट) : **978-93-5109-149-3**

रियायत नीति के अनुसार सामान्य (पेपरबैक) 1 सेट (खंड 1–40) का मूल्यः रू 1073/-
रियायत नीति (Discount Policy) संलग्न है।

प्रकाशकः

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार
15 जनपथ, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571
जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588
वेबसाइट :http://drambedkarwritings.gov.in
Email-Id :cwbadaf17@gmail.com

मुद्रक : अरावली प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा. लिमि., W-30 ओखला, फेज–2, नई दिल्ली–20

परामर्श सहयोग

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री रामदास अठावले
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री कृष्णपाल गुर्जर
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री रतनलाल कटारिया
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री आर. सुब्रह्मण्यम
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार

सुश्री उपमा श्रीवास्तव
अतिरिक्त सचिव एवं सदस्य सचिव,
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

डॉ. बृजेश कुमार
संयोजक, सी.डब्ल्यू.बी.ए.
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

सकंलन (अंग्रेजी)
श्री वसंत मून

अनुवादक तथा पुनरीक्षक
श्री मोहन दास नैमिसराय
श्री पूरन पाल
श्री कन्हैयालाल चंचरीक
श्री सीताराम खोड़ावाल

द्वितीय संस्करण के पुनरीक्षक
डॉ. के.सी. गौतम

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
DR. THAAWARCHAND GEHLOT
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF
SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA

कार्यालयः 202, सी विंग, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली–110115
Office : 202, 'C' Wing, Shastri Bhawan,
New Delhi-110115
Tel. : 011-23381001, 23381390, Fax : 011-23381902
E-mail : min-sje@nic.in
दूरभाषः 011-23381001, 23381390, फैक्सः 011-23381902
ई-मेलः min-sje@nic.in

संदेश

स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माता बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी एक उत्कृष्ट बुद्धिजीवी, प्रकाण्ड विद्वान, सफल राजनीतिज्ञ, कानूनविद, अर्थशास्त्री और जनप्रिय नायक थे । वे शोषितों, महिलाओं और गरीबों के मुक्तिदाता थे। बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी सामाजिक न्याय के लिये संघर्ष के प्रतीक हैं । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में लोकतंत्र की वकालत की । एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण में बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी का योगदान अतुलनीय है ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के लेख एवं भाषण क्रांतिकारी वैचारिकता एवं नैतिकता के दर्शन-सूत्र हैं। भारतीय समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में जहां कहीं भी विषमतावादी भेदभाव या छुआछूत मौजूद है, ऐसे समस्त समाज को दमन, शोषण तथा अन्याय से मुक्त करने के लिये डॉ. अम्बेडकर जी का दृष्टिकोण और जीवन-संघर्ष एक उज्ज्वल पथ प्रशस्त करता है । समतामूलक, स्वतंत्रता की गरिमा से पूर्ण, बंधुता वाले एक समाज के निर्माण के लिये बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने देश की जनता का आह्वान किया था ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने अस्पृश्यों, श्रमिकों, महिलाओं और युवाओं को जो महत्वपूर्ण संदेश दिये, वे एक प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण के लिये अनिवार्य दस्तावेज हैं । तत्कालीन विभिन्न विषयों पर डॉ. अम्बेडकर जी का चिंतन-मनन और निष्कर्ष जितना उस समय महत्वपूर्ण था, उससे कहीं अधिक आज प्रासंगिक हो गया है। बाबासाहेब की महत्तर मेधा के आलोक में हम अपने जीवन, समाज राष्ट्र और विश्व को प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकते हैं। समता, बंधुता और न्याय पर आधारित बाबासाहेब डॉ; भीमराव अम्बेडकर जी के स्वप्न का समाज-**"सबका साथ सबका विकास"** की अवधारणा को स्वीकार करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है, कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान द्वारा, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, **"बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर : सम्पूर्ण वांग्मय"** के खण्ड 1 से 21 तक के संस्करणों को, बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के अनुयायियों और देश के आम जन-मानस की मांग को देखते हुये पुनर्मुद्रण किया जा रहा है ।

विद्वान पाठकगण इन खंडों के बारे में हमें अपने अमूल्य सुझाव से अवगत करायेंगे तो हिंदी में अनुदित इन खण्डों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

9/7/19

(डॉ. थावरचन्द गेहलोत)

बाबासाहेब अम्बेडकर के सम्पूर्ण वाड्मय (Complete CWBA Vols.) का विमोचन
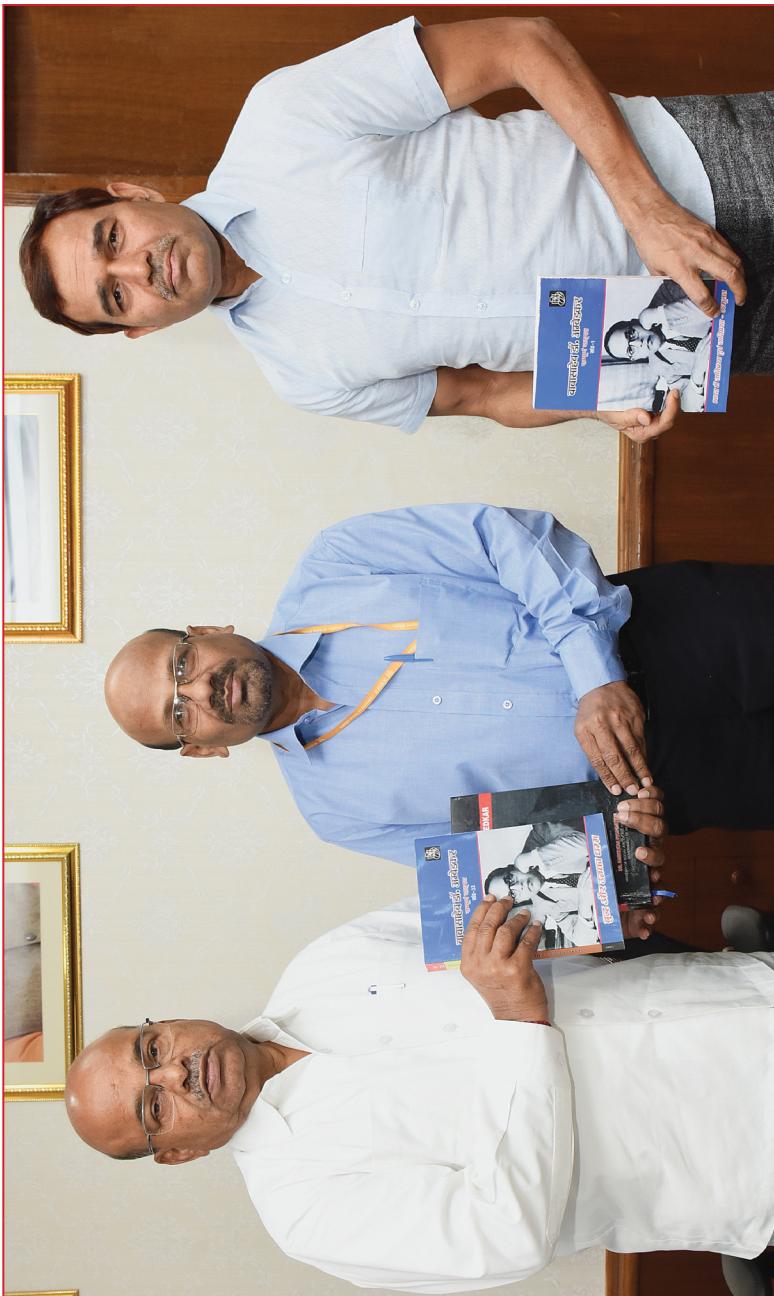
हिंदी और अंग्रेजी में CWBA / सम्पूर्ण वाड्मय, (Complete Volumes) बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के संग्रहित कार्यों के संपूर्ण खण्ड, डॉ. थावरचंद गेहलोत, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, और अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा जारी किया गया है। साथ ही डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान और श्री सुरेन्द्र सिंह, सदस्य सचिव भी इस अवसर पर उपस्थित थे। हिंदी के खंड 22 से खंड 40 तक 2019 में पहली बार प्रकाशित हुए है।

उपमा श्रीवास्तव, आई.ए.एस.
अपर सचिव
UPMA SRIVASTAVA, IAS
Additional Secretary

भारत सरकार
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001
Government of India
Ministry of Social Justice & Empowerment
Shastri Bhawan, New Delhi-110001
Tel. : 011-23383077 Fax : 011-23383956
E-mail : as-sje@nic.in

प्राक्कथन

भारतरत्न डॉ. बी.आर. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के ऐसे पुरोधा रहे हैं, जिन्होंने जीवनपर्यंत समाज के आख़िरी पायदान पर संघर्षरत् व्यक्तियों की बेहतरी के लिए कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे इसलिए उनके लेखों में विषय की दार्शनिक मीमांसा प्रस्फुटित होती है। बाबासाहेब का चिंतन एवं कार्य समाज को बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला तो है ही, साथ ही मनुष्य को जागरूक मानवीय गरिमा की आध्यात्मिकता से सुसंस्कृत भी करता है।

बाबासाहेब का संपूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत क्रांति की शौर्य–गाथा है। वे एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें वर्ण और जाति का आधार नहीं बल्कि समता व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश न हो। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबासाहेब का लेखन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्णव्यवस्था से डॉ. अम्बेडकर कई बार टकराए। इस टकराहट से डॉ. अम्बेडकर में ऐसा जज़्बा पैदा हुआ, जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन का मिशन बना लिया।

समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था का अध्ययन व तुलनात्मक चिंतन–मनन किया।

मैं प्रतिष्ठान की ओर से माननीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार का आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सद्परामर्श एवं प्रेरणा से प्रतिष्ठान के कार्यों में अपूर्व प्रगति आई है।

उपमा श्रीवास्तव

(उपमा श्रीवास्तव)
अतिरिक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार, एवं
सदस्य सचिव

प्रस्तावना

बाबासाहेब डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर एक प्रखर व्यक्तित्व, ज्ञान के प्रतीक और भारत के सुपुत्र थे। वह एक सार्वजनिक बौद्धिक, सामाजिक क्रांतिकारी और एक विशाल क्षमता संपन्न विचारक थे। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के व्यावहारिक विश्लेषण के साथ–साथ अंतःविषयक दृष्टिकोणों को अपने लेखन और भाषणों के माध्य से प्रभावित किया जो बौद्धिक विषयों और भावनाओं को अभिव्यक्त एवं आंदोलित किया। उनके लेखन में वंचित वर्ग के लोगों के लिए प्रकट न्याय और मुक्ति की गहरी भावना है। उन्होंने न केवल समाज के वंचित वर्गों की स्थितियों को सुधारने के लिए अपना जीवन समर्पित किया, बल्कि समन्वय और 'सामाजिक समरसता' पर उनके विचार राष्ट्रीय प्रयास को प्रेरित करते रहे। उम्मीद है कि ये खंड उनके विचारों को समकालीन प्रासंगिकता प्रदान कर सकते हैं और वर्तमान समय के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर के पुनःपाठ की संभावनाओं को उपस्थित कर सकते हैं।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत के साथ–साथ विदेशों में भी जनता के बीच बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर की विचारधारा और संदेश के प्रचार–प्रसार हेतु स्थापित किया गया है। यह बहुत ख़ुशी की बात है कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री के नेतृत्व में प्रतिष्ठान के शासी निकाय के एक निर्णय के परिणामस्वरूप, तथा पाठकों की लोकप्रिय माँग पर डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, बाबासाहेब अम्बेडकर के हिंदी में संपूर्ण वांग्मय (Complete CWBA Volumes) का दूसरा संस्करण पुनर्मुद्रित कर रहा है।

मैं संयोजक, अनुवादकों, पुनरीक्षकों, आदि सभी सहयोगियों, एवं डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान में अपनी सहायक, कुमारी रेनू और लेखापाल, श्री नन्दू शॉ के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी निष्ठा एवं सतत् प्रयत्न से यह कार्य संपन्न किया जा सका है।

विद्वान एवं पाठकगण इन खंडों के बारे में सुझाव से डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान को उसकी वैधानिक ई–मेल आई.डी. **cwbadaf17@gmail.com** पर अवगत कराएं ताकि, अनुदित इन खंडों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान हमेशा पाठकों को रियायती कीमत पर खंड उपलब्ध कराने के लिए प्रयास करता रहा है, तदनुसार आगामी संस्करण का भी रियायत नीति (Discount Policy) के साथ बिक्री जारी रखने का निर्णय लिया गया है। अतः प्रत्येक खंड के साथ प्रतिष्ठान की छूट नीति को संलग्न कर दिया गया है। आशा है कि ये खंड पाठकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने रहेंगे।

(डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार,

15, जनपथ,
नई दिल्ली

कार्य करने की वास्तविक स्वतंत्राता केवल वहीं पर होती है, जहां शोषण का समूल नाश कर दिया गया है, जहां एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अत्याचार नहीं किया जाता, जहां बेरोजगारी नहीं है, जहां गरीबी नहीं है, जहां किसी व्यक्ति को अपने धंधे के हाथ से निकल जाने का भय नहीं है, अपने कार्यों के परिणामस्वरूप जहां व्यक्ति अपने धंधे की हानि, घर की हानि तथा रोजी–रोटी की हानि के भय से मुक्त है।

—डॉ. भीमराव अम्बेडकर

विषय सूची

भाग I

हिंदुत्व का दर्शन

'फिलासफी ऑफ हिंदुइज्म' शीर्षक के अंतर्गत लिखी गई मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि अपने में पूर्ण कृति तथा विशाल योजना का एक अध्याय प्रतीत होता है।

अध्याय-1
हिंदुत्व का दर्शन

I

हिंदुत्व का दर्शन क्या है? यह ऐसा प्रश्न है, जो अपनी तार्किक विचार श्रृंखला में उत्पन्न होता है। परंतु उसकी तार्किक श्रृंखला के अलावा भी इसका इतना महत्व है कि इसे बिना विचार किए छोड़ा नहीं जा सकता। इसके बिना हिंदुत्व के उद्देश्यों और आदर्शों को कोई भी समझ नहीं सकता।

इस संबंध में यह बिल्कुल साफ है कि इस तरह का अध्ययन करने से पहले विषय की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना, और साथ ही उससे संबंधित शब्दावली को परिभाषित करना भी बहुत आवश्यक है।

आरंभ में ही यह सवाल पूछा जा सकता है कि इस प्रस्तावित शीर्षक का क्या अर्थ है? क्या 'हिंदु धर्म का दर्शन' और 'धर्म का दर्शन' शीर्षक एक समान है? मेरी इच्छा है कि इसके पक्ष और विपक्ष पर अपने विचार प्रस्तुत करूं। लेकिन वास्तव में मैं ऐसा नहीं कर सकता। इस विषय पर मैंने बहुत-कुछ पढ़ा है, लेकिन मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे 'धर्म के दर्शन' का स्पष्ट अर्थ अभी तक नहीं मिल पाया है। इसके पीछे शायद दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि धर्म एक सीमा तक निश्चित है लेकिन दर्शनशास्त्र में किन-किन बातों का समावेश किया जाए, यह निश्चित नहीं।[1] दूसरे, दर्शन और धर्म परस्पर विरोधी न भी हों, उनमें प्रतिस्पर्धा तो अवश्य ही है, जैसा कि दार्शनिक और अध्यात्मवादी की कहानी से पता चलता है। उस कहानी के अनुसार, दोनों के बीच चल रहे बाद-विवाद के दौरान, अध्यात्मवादी ने दार्शनिक पर यह दोषारोपण किया कि यह 'एक अंधे पुरुष की तरह है, जो अंधेरे कमरे में एक

---

1. मुनरो के इनसाइक्लोपीडिया ऑफ एजुकेशन में 'फिलासफी' शीर्षक के अंतर्गत लेख देखें।

काली बिल्ली को खोज रहा है, जो वहां है ही नहीं।' इसकी प्रतिक्रियास्वरूप दार्शनिक ने अध्यात्मवादी पर आरोप लगाया कि वह 'एक ऐसे अंधे व्यक्ति की तरह है, जो अंधेरे कमरे में एक काली बिल्ली को खोज रहा है, जब कि बिल्ली का वहां कोई अस्तित्व है ही नहीं, और भी वह उसे पा लेने की घोषणा करता है।' शायद 'धर्म का दर्शन' शीर्षक ही गलत है, जिसके कारण उसकी सही व्याख्या करने में भ्रम पैदा होता है। प्रोफेसर प्रिंगले-पेटीसन[1] ने धर्म के दर्शन का अर्थ समझाते हुए जो अपना बुद्धिमत्तापूर्ण मत व्यक्त किया है, वह मुझे उसके निश्चित विषय के बहुत करीब लगता है। प्रोफेसर प्रिंगले के अनुसार :

> ''सामान्यत: हम जिसे धर्म का दर्शन कहते हैं, उसके संदर्भ में कुछ शब्द उपयोगी हो सकते हैं। बहुत पहले दार्शनिक प्लेटों (अफलातून) ने दर्शनशास्त्र को किसी विषय पर विहंगम दृष्टि डालना कहा था। इसे हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दर्शन संसार के सभी प्रमुख रूपों के संदर्भ में समग्र और संपूर्ण विश्व का अंश मात्र होते हुए इन मुख्य लक्षणों को उनके परस्पर संबंधों के अर्थ में समझने का एक प्रयास है। केवल इसी तरह हम संसार की प्रक्रिया, आधार और इसके स्वरूप के बारे में अपने अंतिम निष्कर्षों तक पहुंचने तथा समझने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं और किन्हीं विशेष कारणों के महत्व का सही अंदाजा लगा सकते हैं। तदनुसार, किसी भी विशेष अनुभव को, धर्म के दर्शन को, कला के दर्शन और विधि के दर्शन को, व्यक्ति जिन मनुष्यों तथा संसार के मध्य निवास करता है, उसके प्रति अपने दृष्टिकोण, अनुभव के विश्लेषण तथा व्याख्या के अर्थ में ही लेना चाहिए और जब कुछ घटनाएं, जिन पर हम अपना ध्यान केंद्रित करते हैं, इतनी सार्वभौमिक और उल्लेखनीय होती हैं कि वे धर्म के इतिहास से मनुष्य के धार्मिक अनुभव के दर्शन से भी प्रकट हों, तब ऐसी सभी घटनाएं हमारे दार्शनिक निष्कर्षों पर निर्णायक प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकतीं। वस्तुत: अनेक लेखकों द्वारा इस विषय पर व्यक्त किए गए विचार मात्र सामान्य विचार हैं।
>
> जिन तत्वों के साथ धर्म के दर्शन का संबंध है, उनकी संपूर्ति इस विषय के अत्यंत बोधगम्य अर्थ में धर्म के इतिहास से होती है। जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान टीले ने कहा है, 'सभ्य तथा असभ्य संसार के सभी मृत और सजीव

1. *दि फिलासफी ऑफ रिलीजन,* आक्सफोर्ड, पृष्ठ 1-2

> धर्म अपने सभी अभिव्यक्त रूपों में एक ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक तत्व हैं।' इस बात पर ध्यान देना होगा कि ये घटनाएं धर्म के दर्शन का आधार तो बनती हैं, परंतु वे स्वयं दर्शन अथवा टीले के शब्दों में, धर्म का 'विज्ञान' नहीं बनती। टीले कहते हैं, 'मैंने सभी विद्यमान धर्मों का बारीकी से वर्णन किया है। उन्होंने उनके सिद्धांतों, परंपराओं और दंतकथाओं के बारे में भी प्रकाश डाला है। जो तत्व संस्कारों की शिक्षा देते हैं, उनका, और धर्मों से साथ जुड़े हुए लोगों के संगठनों का भी वर्णन किया है। टीले महोदय ने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया है। उन्होंने विभिन्न धर्मों का उनकी उत्पत्ति से लेकर विकास तक और बाद में पतन तक का पता लगाया है। उन्होंने केवल उन्हीं बातों को ही संगृहीत किया है, जिनके आधार पर धर्म का विज्ञान क्रियाशील रहता है। उनका कहना है कि ऐतिहासिक जानकारी चाहे कितनी भी पूर्ण हो, पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इतिहास दर्शन नहीं है। धर्म का दर्शन निश्चित करने के लिए धर्म के विभिन्न रूपों में जो समान तत्व है, जिसकी जड़ें हम मानव-स्वभाव में देख सकते हैं, उसे जानना आवश्यक है। ऐसे तत्व का विकास उसके संपूर्ण रूपों में और उसके विकास के नीचे के ऊपर तक ही स्पष्ट अवस्थाओं द्वारा जाना जा सकता है। उसके साथ ही मानव-सभ्यता के मुख्य तत्वों से उनके जो गहरे संबंध हैं, उन्हें भी जाना जा सकता है।''

यदि इसे ही धर्म का दर्शन समझा जाए, तब जिसे तुलनात्मक धर्म कहा जाता है, उसके अध्ययन का ही यह एक अलग नाम है, जिसका एक और उद्देश्य यह है कि धर्म के विभिन्न रूपों में जो समान तत्व है, उसे जाना जाए। ऐसा मुझे लगता है। ऐसे अध्ययन का क्षेत्र और महत्व चाहे कुछ भी हो, किंतु 'धर्म का दर्शन' शीर्षक का प्रयोग प्रो. प्रिंगले-पेटीसन ने जिस अर्थ में किया है, मैं उसके बिल्कुल विपरीत अर्थ में रहा हूं। मैं 'दर्शन' शब्द का उसके मूल अर्थ में ही प्रयोग कर रहा हूं, जिसके दो अर्थ हैं। इसका अर्थ है उपदेश, जैसा कि लोग सुकरात और प्लेटो के दर्शन के बारे में कहते हैं। दूसरे अर्थ में, इसका तात्पर्य है किसी भी विषय तथा घटना पर निर्णय देते समय सूक्ष्म विवेक-बुद्धि का प्रयोग करना। इस आधार पर अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए मेरे धर्म का दर्शन, केवल वर्णनात्मक शास्त्र नहीं है। मैं उसे वर्णनात्मक और नियमबद्ध शास्त्र दोनों मानता हूं। जहां तक उसका धर्म के उपदेश के साथ संबंध है, धर्म का दर्शन केवल वर्णनात्मक शास्त्र बनता है। परंतु जब उसका संबंध उन उपदेशों पर निर्णय लेने के लिए सूक्ष्म विवेक-बुद्धि का उपयोग करने से होता

है, तब धर्म का दर्शन एक नियमबद्ध शास्त्र बनता है। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि हिंदु धर्म के दर्शन के अध्ययन से मेरा संबंध किन बातों से है। स्पष्टत: मैं हिंदू धर्म का विश्लेषण जीवन-शैली के रूप में उसमें छिपे महत्व को निर्धारित करने के रूप में करूंगा।

यहां एक पहलू तो स्पष्ट हो जाता है। लेकिन इसका एक पहलू और है, जिसका स्पष्ट होना शेष है। इसका संबंध इसी के नजदीकी अंगों की जांच करने से है, और जिन शब्दों का प्रयोग मैं करूंगा, यह उनकी परिभाषाओं से संबद्ध है।

मेरे विचार में धर्म के दर्शन के अध्ययन में तीन आयामों का होना आवश्यक है। मैं उन्हें आयाम कहता हूं, क्योंकि वे उन अज्ञात अंशों के समान हैं, जिनका उत्पादन के अंगों में समावेश होता है। यदि हम धर्म के दर्शन के परीक्षण का कोई नतीजा निकालना चाहते हैं, तब हमें उन आयामों की जांच करके उनकी व्याख्या निश्चित करनी होगी।

इन तीन आयामों में प्रथम है-धर्म। धर्म की परिभाषा से हम क्या समझते हैं, इसे निश्चित करना आवश्यक है, जिससे हम परस्पर-विरोधी तर्क-वितर्कों को टाल सकें, उनसे बच सकें। यह बात धर्म के संबंध में विशेष रूप से आवश्यक है, क्योंकि उसकी निश्चित व्याख्या के बारे में सहमति नहीं है। वैसे इस प्रश्न पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता भी नहीं। इसलिए इस शब्द का प्रयोग मैं जिस अर्थ में यहां कर रहा हूं, उसे स्पष्ट करने से ही मेरा समाधान हो जाएगा।

धर्म शब्द का प्रयोग मैं ब्रह्मविज्ञान के रूप में करता हूं। शायद व्याख्या की दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्मविज्ञान भी अलग-अलग तरह का है और मुझे वह सब स्पष्ट करना चाहिए। प्राचीनकाल से ही ऐतिहासिक दृष्टि से जिनकी चर्चा की जाती रही है, ऐसे ब्रह्मविज्ञान दो तरह के हैं : पौराणिक ब्रह्मविज्ञान और लौकिक ब्रह्मविज्ञान। लेकिन ग्रीक लोगों ने इन दोनों की व्याख्या इस प्रकार से की है। पौराणिक बह्मविज्ञान से उनका अर्थ है, देवी-देवता और उनके कार्य-कलाप की कहानियां, जिन्हें प्रचलित काल्पनिक साहित्य में दर्शाया गया है। दूसरे, यानी लौकिक ब्रह्मविज्ञान में विभिन्न त्योहार तथा समारोह और उनसे संबंधित रीति-रिवाजों की जानकारी का समावेश होता है। मैं इन दोनों अर्थो के अनुरूप ब्रह्मविज्ञान शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूं। मेरे अनुसार ब्रह्मविज्ञान का अर्थ है, नेसर्गिक ब्रह्मविज्ञान[1] जो ईश्वर और ईश्वरीय उपदेशों का सिद्धांत है। वह नैसर्गिक प्रक्रिया का ही एक अविभाजित अंग है। पारंपरिक और रूढ़ अर्थ में नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान तीन सिद्धांतों

1. नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान के एक विशिष्ट अध्ययन विभाग के रूप में उत्पत्ति प्लेटो द्वारा हुई। देखें : 'लाज'

का प्रतिपादन करता है– (1) ईश्वर का अस्तित्व है और वह विश्व का निर्माता है; (2) प्राकृतिक रूप में होने वाली सभी घटनाओं पर ईश्वर का नियंत्रण है, और (3) ईश्वर अपने सार्वभौमिक नैतिक नियमों द्वारा मानवजाति पर शासन करता है।

मैं इस बात से अवगत हूं कि साक्षात्कारी दैवी सत्य का स्वेच्छा से प्रकटन नाम का ब्रह्मविज्ञान अलग है, और इसे नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान से भिन्न किया जा सकता है, लेकिन यह भेद हमारे लिए महत्व नहीं रखता, क्योंकि जैसा बताया गया है[1], साक्षात्कार की फलश्रुति बिना किसी परिवर्तन के नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान में होती है और मानवीय प्रयासों से जो ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे केवल उसके साथ जोड़ा जाता है अथवा नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान में ऐसा परिवर्तन होता है कि उसका संपूर्ण सत्य स्वरूप जब उसके सही साक्षात्कार को ध्यान में रखते हुए देखा जाता है, तब वह अधिक स्पष्ट और अधिक समृद्ध बन जाता है। लेकिन ऐसा भी एक मत है कि मूल नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान और मूल साक्षात्कारी ब्रह्मविज्ञान, दोनों में परस्पर विसंगति है। यहां उसकी चर्चा टालना उचित ही होगा, क्योंकि ऐसी चर्चा संभव नहीं है।

ब्रह्मविज्ञान के तीन सिद्धांत हैं– (1) ईश्वर का अस्तित्व, (2) ईश्वर का विश्व पर दैवी शासन, और (3) ईश्वर का मनुष्य जाति पर नैतिक शासन इन सभी को ध्यान में रखते हुए मेरी मान्यता है कि धर्म का अर्थ दैवी शासन की आदर्श योजना का प्रतिपादन करना है, जिसका उद्देश्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था बनाना है, जिसमें मनुष्य नैतिक जीवन व्यतीत कर सके। धर्म से मैं यही भाव ग्रहण करता हूं और इस परिचर्चा में मैं 'धर्म' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करूंगा।

दूसरा आयाम है, धर्म जिस आदर्श योजना का समर्थन करता है, उसे जानना। किसी भी समाज के धर्म में स्थापित, स्थायी और प्रभावशाली अंग क्या हैं, उन्हें निश्चित करना और उनके आवश्यक गुणों को अनावश्यक गुणों से अलग करना। यह कभी-कभी बहुत कठिन होता है। संभवतः इस कठिनाई का कारण उस कठिनाई में छिपा हुआ है, जिसके बारे में प्रो. राबर्टसन स्मिथ[2] कहते हैं :

> ''धर्म की परंपरागत प्रथाओं में अनेक शताब्दियों में धीरे-धीरे वृद्धि हुई है और उसका मनुष्य की वैचारिक प्रकृति तथा उसके बौद्धिक और नैतिक

---

1. दि फेथ ऑफ एक मोरेलिस्ट, ए.ई. टाइलर, पृष्ठ 19
2. दि रिलीजन ऑफ सैमाइटस, (1927)

विकास की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं पर प्रभाव पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिमानव से लेकर आज तक सभ्यता की प्रत्येक अवस्था में मूर्ति-पूजा वंश परंपरा से उनके सभी मिश्रित संस्कारों और समारोहों के साथ चली आ रही है। लेकिन इस आधार पर ईश्वर के किसी भी रूप की कल्पना करना संभव नहीं। मानवजाति के धार्मिक विचारों को इतिहास, जिसे धार्मिक संस्थाओं ने साकार किया है, पृथ्वी के भौगोलिक इतिहास के समान ही है, जिसमें नवीन और प्राचीन को साथ-साथ अथवा एक तह पर दूसरी तह के समान रखा गया है।''

भारत में ठीक ऐसा ही हुआ है। इस देश में धर्म का जो प्रचार-प्रसार हुआ है, इस संदर्भ में प्रो. मैक्समूलर ने कहा है :

''हमने धर्म को चरणबद्ध छोटे-छोटे बच्चों की सरल प्रार्थनाओं से लेकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की गहन तपस्या तक फलते-फूलते देखा है। वेदों की अधिकांश ऋचाओं में हमें धर्म की बाल्यावस्था का पता चलता है, तो ब्राह्मण ग्रंथों में उनके यज्ञादि, पारिवारिक तथा नैतिक आर्दशों में व्यस्त यौवन परिलक्षित होता है। उपनिषद में वैदिक धर्म का वृद्धत्व नजर आता है। भारतीय ज्ञान की ऐतिहासिक प्रगति में जब वे ब्राह्मण शास्त्रों की परिपक्वता तक पहुंचे, तभी पूर्णतः बाल सुलभ प्रार्थनाओं का त्याग करना आवश्यक था। भारतीय मेधा ऐतिहासिक प्रगति के साथ-साथ यज्ञ के खोखलेपन और पुरातन देवताओं की सही पहचान हो गई। तब उनको उपनिषदों के अधिक परिपूर्ण देवताओं से बदलना भी आवश्यक था। परंतु ऐसा नहीं हो सका। भारत में प्रत्येक धार्मिक विचार, जिसे एक बार व्यक्त किया गया, उसे कायम रखा गया और एक पवित्र वसीयत मानकर सौंपा गया है, और साथ ही भारतीय राष्ट्र की बाल्यवस्था, यौवन तथा वृद्धावस्था, इन तीनों अवस्थाओं के विचारों को प्रत्येक व्यक्ति की तीनों अवस्थाओं का स्थायी भाव बना दिया गया है। एक ही आचार-संहिता, वेद, जिसमें न केवल धार्मिक विचारों के विभिन्न पहलुओं का समावेश है, बल्कि ऐसे सिद्धांत भी हैं, जिन्हें परस्पर विरोधी कहा जा सकता है।''

परंतु जो धर्म परिपूर्ण धर्म हैं, उनके संबंध में ऐसी कठिनाई अधिक परिलक्षित नहीं होती। परिपूर्ण धर्मों की मौलिक विशेषता यह है कि उनकी आदिकालीन धर्मों की तरह किसी अनजान ताकतों की गतिविधि के अंतर्गत वृद्धि नहीं होती, जो युगों-युगों से मौन

रूप से कार्यरत हैं, यद्यपि उनकी मूल उत्पत्ति उन महान धर्म गुरुओं के उपदेशों से होती है, जो एक दैवी साक्षात्कार के रूप में बोलते है। जाग्रत प्रयासों से उत्पन्न होने के कारण परिपूर्ण धर्म का दर्शन जानना और उसका वर्णन करना सरल है। हिंदू धर्म यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के समान ही मुख्य रूप से एक परिपूर्ण धर्म है। उसके दैवी शासन को तलाश करने की आवश्यकता नहीं है। दैवी शासन ही हिंदुत्व की योजना को एक लिखित संविधान में स्थापित किया गया है। यदि कोई भी उसे जानना चाहे तो वह उस पवित्र पुस्तक को देख सकता है, जिसे *मनुस्मृति* के नाम से जाना जाता है। यह एक दैवी आचार-संहिता है, जिसमें हिन्दुओं के धार्मिक, शास्त्रोक्त तथा सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने वाले नियमों का सूक्ष्म विवरण है, जिसे हिन्दुओं की *बाइबिल* माना जाना चाहिए और जिसमें हिंदू धर्म के दर्शन का समावेश है।

धर्म के दर्शन का तीसरा आयाम है, एक ऐसी कसौटी[1] निश्चित करना, जो धर्म का समर्थन-प्राप्त दैवी शासन की योजना मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त हो। धर्म को उस जांच की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। उसका मूल्यांकन किस कसौटी से होगा? इससे हम नियमों की परिभाषा निश्चित कर सकते हैं। इन तीनों आयामों में इस तीसरे आयाम की जांच करना और उसे निश्चित करना बहुत ही कठिन है।

हालांकि धर्म के दर्शन पर बहुत कुछ लिखा गया, लेकिन दुर्भाग्य से इस प्रश्न पर अधिक चिंतन नहीं किया गया और निश्चित रूप से इस समस्या के समाधान के लिए कोई उपाय नहीं ढूंढा गया। इस प्रश्न के समाधान के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना रास्ता स्वयं तलाश करने को कहा गया है।

जहां तक मेरा संबंध है, मेरे विचार से इस मत का अनुसरण करके आगे बढ़ना उचित होगा कि यदि किसी भी आंदोलन अथवा संस्था का दर्शन जानना है, तब उस संस्था और आंदोलन के अंतर्गत जो क्रांतियां आई हैं, उनका आवश्यक रूप से अध्ययन किया जाए। क्रांति दर्शन की जननी है, चाहे उसे दर्शन की जननी न भी

---

1. धर्म-दर्शन के कुछ विद्यार्थी प्रथम दो परिमाणों के अध्ययन को उसी प्रकार संबद्ध करते है, जिस प्रकार धर्म-दर्शन के क्षेत्र में आवश्यक होता है। वे ऐसा महसूस करते प्रतीत नहीं होते कि तीसरा परिमाण धर्म-दर्शन के अध्ययन का आवश्यक भाग है। उदाहरणार्थ, *हेस्टिंग्ज इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स*, खंड 12, पृष्ठ 393 पर एडम्स के 'अध्यात्मकवाद' शीर्षक के अंतर्गत लेख को देखे। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। मतभेद इसलिए है, क्योंकि मैं धर्म-दर्शन को एक सामान्य अध्ययन तथा एक व्याख्यात्मक अध्ययन मानता हूं। मैं नहीं समझता कि यहां सामान्य हिंदुत्व का दर्शन जैसी कोई वस्तु हो सकती है। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक धर्म का अपना विशेष दर्शन होता है। मेरे लिए धर्म का कोई दर्शन नहीं है। यहां एक धर्म का एक दर्शन है।

माना जाए, फिर भी वह ऐसा दीप है जो दर्शन को प्रकाश-युक्त बनाता है। धर्म भी इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। इसलिए मेरी दृष्टि से सबसे अच्छा तरीका यही है कि यदि हम किसी धर्म के दर्शन का मूल्यांकन करना चाहते हैं और इसके लिए कोई कसौटी निश्चित करना चाहते हैं, तब उस धर्म में जो क्रांतियां आई हैं, उनका अध्ययन करें। यही एक तरीका है, जिसे मैं अपनाना चाहता हूं।

इतिहास के विद्यार्थी एक धार्मिक क्रांति से परिचित हैं। यह क्रांति धर्म के कार्यक्षेत्र और उसके अधिकार की सीमा से संबंधित है। एक समय ऐसा भी था, जब धर्म ने मानवीय ज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र को ढक लिया था और जो भी शिक्षा उसने प्रदान की, वह अमोघ मानी गई। इसमें खगोल-शास्त्र का भी समावेश था जिसने ब्रह्मांड ने सिद्धांत की शिक्षा दी जिसके अनुसार पृथ्वी विश्व के मध्य में स्थिर थी, जब कि सूर्य, चंद्रमा, ग्रह और अन्य सभी तारे आकाश में अपने निश्चित क्षेत्र में पृथ्वी की परिक्रमा करते थे। इसमें जीव-शास्त्र और भूगर्भ शास्त्र का भी समावेश था। साथ ही इस मत का प्रतिपादन किया था कि पृथ्वी पर जो जीव सृष्टि है, वह एक ही साथ उत्पन्न हुई और उसकी रचना के समय से ही उसमें सभी प्राणीमात्र और स्वर्ग के देवताओं का समावेश है। उसने वैद्यक-शास्त्र को भी अपना कार्यक्षेत्र बना लिया था, जिसमें यह शिक्षा दी गई कि रोग या बीमारी एक दैवी प्रकोप अथवा पाप के लिए दंड है अथवा वह शैतानों का कार्य है और उसे संतों द्वारा अपने पवित्र संस्कार से अथवा प्रार्थनाओं से अथवा धार्मिक यात्राओं से अथवा भूत-प्रेत हटाने से अथवा ऐसे उपायों से जो भूतों को त्रस्त करें, दूर किया जा सकता है। उसने शरीर-शास्त्र तथा मानव-शास्त्र को भी अपना कार्यक्षेत्र बना लिया था और उसके अंतर्गत यह सिखाया कि शरीर तथा आत्मा, दो अलग-अलग तत्व हैं।

धीर-धीरे धर्म का यह विशाल साम्राज्य नष्ट हो गया। कोपरनिक्स की क्रांति ने खगोल विद्या को धर्म के प्रभुत्व से मुक्त किया। डार्विन की क्रांति ने जीव-शास्त्र तथा भूगर्भ-शास्त्र को धर्म के जाल से बाहर निकाला। वैद्यक-शास्त्र के क्षेत्र में ब्रह्मविज्ञान का अधिकार अभी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ है। वैद्यकीय समस्याओं में उसका हस्तक्षेप आज भी जारी है। परिवार नियोजन, गर्भपात तथा जीव में शारीरिक दोष के कारण ही ऐसे लोगों का बंध्याकरण करना, आदि विषयों पर ईश्वरपरक मान्यताओं का प्रभाव आज भी है। मनोविज्ञान अब तक धर्म की जकड़ से स्वयं को पूर्ण रूप से मुक्त नहीं कर सका। परंतु फिर भी डार्विन के सिद्धांत ने ब्रह्मविज्ञान को इतनी गहरी चोट पहुंचाई और उसके अधिकार को यहां तक नष्ट किया कि उसके बाद ब्रह्मविज्ञान ने अपना खोया हुआ साम्राज्य पुनः प्राप्त करने के लिए कभी भी गंभीर प्रयास नहीं किए।

इस तरह धर्म के साम्राज्य के विनाश को एक महान क्रांति माना जाना पूर्णतः स्वाभाविक है। विज्ञान ने पिछले चार सौ वर्षों में धर्म के साथ जो संघर्ष किया, उसी का यह परिणाम है। इसके लिए दोनों में अनेक गंभीर संघर्ष हुए, जिसके परिणामों से जो क्रांति हुई, उसकी ज्योति से प्रभावित होने से कोई भी नहीं बच सका।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि यह धार्मिक क्रांति एक महान वरदान साबित हुई। उसने विचारों की आजादी को स्थापित किया। उसने समाज को इस योग्य बनाया कि वह अपना नियंत्रण स्वयं कर सके, अपना संसार बना सके जो समाज कभी अंधविश्वास से घिरा हुआ था, अपनी रहस्यात्मक सत्ता से बाहर निकलकर अपने लिए एक ऐसा स्थान बनाए, जहां स्वतंत्र विचारों का अपना महत्व हो। सभ्यता के निर्माण के लिए लौकिकता की इस प्रक्रिया का, जो संस्कृति से भिन्न है, केवल वैज्ञानिकों ने ही स्वागत नहीं किया, बल्कि सामान्य धार्मिक लोग भी यह सोचने लगे कि ब्रह्मविज्ञान के नाम पर जो कुछ भी सिखाया जाता रहा, उसमें बहुत-सी बातें अनावश्यक ही हैं।

परंतु धर्म के दर्शन का मूल्यांकन करने के लिए नियमों को निश्चित करने के उद्देश्य से हमें भिन्न प्रकार की एक दूसरी ही क्रांति को जानना होगा, जो धर्म में हुई है। यह क्रांति मनुष्य के साथ ईश्वर के समाज और अन्य मनुष्यों के संबंधों का स्वरूप तथा उसके मान्यता प्राप्त सिद्धांतों से संबंधित है। यह क्रांति कितनी महान थी, यह बात हम सभ्य और आदिम समाज को विभाजित करने वाले भेदों से देख सकते हैं। यह बात भी आश्चर्यजनक महसूस होती है कि आज तक इस धार्मिक क्रांति का सुनियोजित अध्ययन नहीं किया गया। यद्यपि यह क्रांति इतनी महान तथा विशाल थी कि इसने असभ्य समाज के धर्म के स्वरूप में आमूल परिवर्तन कर दिया। परंतु इस क्रांति के बारे में लोगों को बहुत कम ज्ञान है।

हम असभ्य समाज और सभ्य समाज की तुलना आरंभ करते हैं।

आदिम समाज के धर्म में दो बातें हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। पहली बात है, संस्कार और समारोहों का आयोजन, जादू-टोने की प्रथा और संबंध सूचक प्रतीकों अथवा चिह्नों की पूजा। ध्यान में रखने योग्य एक अन्य बात यह है कि संस्कार, समारोह, जादू-टोना, निर्जीव चिह्न वस्तु, इन सभी का कुछ प्रसंगों के साथ विशेष संबंध है। यह ऐसे प्रसंग हैं, जो मुख्य रूप से मानव-जीवन की संकटकालीन स्थिति को दर्शाते हैं। जन्म, पहली संतान का जन्म, पुरुषत्वम प्राप्ति, स्त्री का बालिग होना, विवाह, बीमारी, मृत्यु और युद्ध जैसी घटनाएं, सामान्य रूप से ऐसे प्रसंग होते हैं,

जिस समय संस्कार-समारोह आयोजित किए जाते हैं, जादू-टोना किया जाता है और प्रतीकों की पूजा की जाती है।

धर्म की उत्पत्ति तथा उसके इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों ने धर्म की उत्पत्ति का मूल हमेशा जादू-टोना, प्रतिबंध और प्रतीक तथा उससे संबंधित संस्कार और समारोह के संदर्भ में स्पष्ट करने के प्रयास किए हैं और उनका जिन प्रसंगों के साथ संबंध है, उसे महत्वपूर्ण नहीं माना। परिणामस्वरूप हमारे सामने कुछ ऐसे सिद्धांत प्रकट हुए जो यह बताते हैं कि धर्म की उत्पत्ति जादू-टोना और प्रतीकों की पूजा से हुई है। इससे बड़ी दूसरी गलती कोई और हो नहीं सकती। यह सच है कि आदिमानवों का समाज जादू-टोना करता था, प्रतिबंधों पर विश्वास रखता था और प्रतीकों की पूजा करता था। परंतु यह मानना गलत है कि इससे धर्म बनता है अथवा यही धर्म की उत्पत्ति के मूल स्रोत हैं। ऐसा दृष्टिकोण अपनाना, एक प्रकार से, जो बात आकस्मिक है, उसको ही स्थायी तत्व मानने के बराबर है। आदिम समाज के धर्म की मुख्य बात है मानवीय अस्तित्व की मूल वास्तविकता, जैसे कि जीवन, मृत्यु, विवाह, आदि। जादू, टोना-टोटके ऐसी चीजें हैं। जो आकस्मिक हैं। जादू-टोना, प्रतिबंध, प्रतीक, यह सब-कुछ साध्य नहीं हैं, केवल साधन हैं। इनका उद्देश्य जीवन की रक्षा है। एक बात यह देखने में आई है कि असभ्य समाज में जादू-टोना, प्रतिबंध, आदि का अंगीकार अपने स्वयं के लिए नहीं, बल्कि जीवन की रक्षा के लिए, और बुरी बातों से खतरों के बचाव के लिए किया गया। इस प्रकार से हमें यह समझना होगा कि आदिम समाज का धर्म, जीवन तथा उसकी सुरक्षा से संबंधित था और जीवन की इस प्रक्रिया से ही असभ्य समाज के धर्म की उत्पत्ति हुई है और इसमें ही उसका सार है। आदिम समाज को जीवन और प्रवास की इतनी अधिक चिंता थी कि उसी को ही उसने अपने धर्म के आधार बनाया। जीवन की प्रक्रियाएं उनके धर्म की इतनी अधिक केंद्र बिंदु बन गई थीं कि उस पर जिन-जिन बातों का प्रभाव होता है, उन सभी को उन्होंने अपने धर्म का अंग बना दिया। आदिम समाज के धार्मिक समारोह केवल जन्म, पुरुषत्व, यौवन, विवाह, रोग, मृत्यु और युद्ध तक ही सीमित नहीं थे। उनका संबंध भोजन या खाद्यान्न से भी था। पशुपालक पशुओं को पवित्र मानते थे। कृषक भूमि की बुआई और फसल की कटाई धार्मिक समारोहों के साथ करते थे। इसी प्रकार अकाल, महामारी तथा अन्य प्राकृतिक अनहोनी घटनाओं के समय भी धार्मिक समारोह किए जाते थे।

अनाज काटना और अकाल जैसे प्रसंगों पर समारोह क्यों मनाए जाते हैं, आदिम समाज के लिए जादू-टोना, प्रतिबंध मानना, प्रतीकों की पूजा करना, यह सब कुछ इतना महत्वपूर्ण क्यों हैं? इसका एक ही उत्तर है कि इन सभी का जीवन की रक्षा पर प्रभाव होता है। इसलिए जीवन की प्रक्रिया और उसकी रक्षा, यही बात मुख्य उद्देश्य बन जाता है। आदिम समाज के धर्म में जीवन और उसकी रक्षा, यही बात मुख्य केंद्र बिंदु है। जैसा प्रो. क्राउले ने बताया है, आदिम समाज के धर्म का प्रारंभ और अंत, जीवन और उसके संरक्षण से होता है।

जीवन और उसकी रक्षा में ही आदिम समाज के धर्म का समावेश है। आदिम समाज के धर्म की यह जैसे सच्चाई है, वह सभी धर्मों पर लागू होती है, चाहे उसका अस्तित्व कहीं भी हो। सभी धर्मों का सार इसी सच्चाई में है यह सच है कि वर्तमान समाज में आध्यात्मिक सुधारों के कारण हम लोग धर्म के इस सार तत्व को नजरअंदाज कर देते हैं और कभी-कभी भूल भी जाते हैं, तथापि जीवन और उसकी रक्षा की धर्म का सार है, यह बात संदेह से बिल्कुल परे है। प्रो. क्राउले ने यह बात बहुत ही उत्तम ढंग से स्पष्ट की है। वर्तमान समाज में मनुष्य के धार्मिक जीवन के बारे में यह कहते हैं कि किस प्रकार-

> "मनुष्य का धर्म, उसके सामाजिक अथवा व्यावसायिक कार्य में, उसके वैज्ञानिक अथवा कलात्मक जीवन में बाधक नहीं होता। वास्तव में उसके धर्म की आवश्यकताएं उस एक विशेष दिन पूरी की जाती हैं, जब वह सामान्य रूप से सभी भौतिक संबंधों से मुक्त होता है। वास्तव में उसका जीवन दो हिस्सों में बंटा हुआ है, परंतु उसका जो आधा हिस्सा धर्म के साथ जुड़ा है, वह प्राथमिक है। उसका सैबथ का दिन (चर्च में विश्राम-दिवस) जीवन और मृत्यु जैसे गंभीर प्रश्न पर विचार करने में बीतता है। साथ ही प्रार्थना करने की आदत, भोजन करते समय ईश्वर को धन्यवाद देना, और मृत्यु, जीवन और विवाह आदि सर्वथा धर्मानुष्ठान की क्रियाएं हैं, यह सब-कुछ अभिन्न रूप से उसके साथ जुड़ा हुआ है। संभवत: व्यवसाय अथवा विषयसुखों को अत्सर्गित किया जाना चाहिए, परंतु उसमें भी परिवर्तित धार्मिक भावना का आदेश होता है।"

वर्तमान समाज के मनुष्य की धार्मिक भावनाओं की आदिम समाज के उपरोक्त वर्णन के साथ तुलना की जाए, तब इस बात से कौन इंकार कर सकता है कि सैद्धांतिक और आचरण, दोनों दृष्टियों से धर्म का मौलिक स्वरूप एक ही है, चाहे कोई आदिम समाज के धर्म की बात करता है अथवा सभ्य समाज की।

इसलिए यह बात स्पष्ट है कि आदिम समाज और सभ्य समाज, दोनों एक बात पर सहमत हैं। दोनों में धर्म के हित का केंद्र बिंदु, यानी जीवन की वह प्रक्रिया, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा होती है और उसके वंश का संचालन होता है, एक ही है। इस बात में दोनों में ही कोई वास्तविक अंतर नहीं है। परंतु अन्य दो महत्वपूर्ण मुद्दों पर उनमें भेद है।

प्रथम, आदिम समाज के धर्म में ईश्वर की कल्पना का कोई भी अंश नहीं है। दूसरे, आदिम समाज के धर्म में नैतिकता और धर्म, इन दोनों में कुछ भी संबंध नहीं है। आदिम समाज में ईश्वर के बिना धर्म है। आदिम समाज में नैतिकता है, परंतु वह धर्म से स्वतंत्र है।

धर्म में ईश्वर की कल्पना का उदय कब और कैसे हुआ, यह कहना संभव नहीं है। यह तो हो सकता है कि ईश्वर की कल्पना का मूल समाज के महान व्यक्ति की पूजा में हो, जिससे मनुष्य की जीवित ईश्वर में श्रद्धा का, यानी किसी सर्वश्रेष्ठ को देखकर ईश्वर मानने के आस्तिकवाद का उदय हुआ होगा। यह हो सकता है कि ईश्वर की कल्पना, यह जीवन किसने बनाया है, जैसे दार्शनिक विचार के फलस्वरूप अस्तित्व में आई होगी, जिससे एक सृष्टि के निर्माणकर्ता के रूप में, उसे बिना देखे मानने से ईश्वरवाद का उदय हुआ होगा। चाहे कुछ भी हो, ईश्वर की कल्पना धर्म का एक अभिन्न अंग नहीं है। उसका संबंध धर्म के साथ कैसे जुड़ गया, यह बताना मुश्किल है। जहां तक धर्म और नैतिकता का संबंध है, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। यद्यपि धर्म और ईश्वर का सर्वथा अभिन्न संबंध नहीं है, परंतु धर्म और नैतिकता, दोनों का अभिन्न संबंध है। जीवन, मृत्यु और विवाह, इन मानव-जीवन की मौलिक वास्तविकताओं से धर्म और नैतिकता, दोनों का संबंध है। जीवन की उन मौलिक वास्तविकताओं तथा उनकी क्रियाओं-प्रक्रियाओं को उत्सर्गित करने के साथ-साथ उसने उनकी रक्षा के लिए समाज द्वारा बनाए गए नियमों को भी उत्सर्गित किया है। इस प्रश्न को इस दृष्टिकोण से देखने के बाद इस बात की व्याख्या आसान हो जाती है कि धर्म और नैतिकता का संबंध कैसे स्थापित हुआ। यह संबंध धर्म और ईश्वर के बीच स्थापित संबंध से भी अधिक स्वाभाविक और दृढ़ है। परंतु फिर भी धर्म और नैतिकता, इन दोनों का मिलन निश्चित रूप से कब हुआ, यह बताना कठिन है।

---

1. यह कि ईश्वर की कल्पना का उदय इन दोनों दिशाओं से हुआ है, इसे हिंदू धर्म द्वारा भली-भांति दर्शाया गया है। इंद्र और ब्रह्मा की कल्पना की तुलना ईश्वर से करें।

चाहे कुछ भी हो, यह वस्तुस्थिति है कि सभ्य समाज का धर्म और आदिम समाज के धर्म दो महत्वपूर्ण कारणों से भिन्न-भिन्न हैं। सभ्य समाज में ईश्वर का धर्म की योजना में समावेश है। सभ्य समाज में नैतिकता को धर्म के कारण पवित्रता प्राप्त होती है।

मैं जिस धार्मिक क्रांति की बात कर रहा हूं, उसकी यह प्रथम अवस्था है। धार्मिक क्रांति की प्रक्रिया धर्म के विकास में इन दो तत्वों के उभरने के साथ ही समाप्त हो गई, ऐसा मानना उचित नहीं है। यह दोनों विचारधाराएं सभ्य समाज के धर्म का एक हिस्सा बन जाने के बाद और अधिक परिवर्तित हुई, जिसके कारण उनके अर्थों में तथा उनके नैतिक महत्व में क्रांति हो गई। धार्मिक क्रांति की दूसरी स्थिति में बहुत मौलिक परिवर्तन हो गए। यह भेद इतना विशाल है कि उसके कारण सभ्य समाज, प्राचीन समाज और आधुनिक समाज में विभाजित हो गया और जब हम सभ्य समाज के धर्म की बात करते हैं, तब प्राचीन समाज और आधुनिक समाज के धर्म की चर्चा करना आवश्यक बन जाता है।

प्राचीन समाज को आधुनिक समाज से अलग करने वाली धार्मिक क्रांति, सभ्य समाज को आदिम समाज से अलग करने वाली धार्मिक क्रांति से बहुत ही विशाल है। उसकी व्यापकता, ईश्वर, समाज और मनुष्य के बीच संबंधों के बारे में इसके द्वारा जो धारणाएं बनीं, उनके भेदों से स्पष्ट होती है।

इस भेद का पहला मुद्दा समाज की रचना से संबंधित है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी पसंद से नहीं, बल्कि अपने जन्म तथा पालन-पोषण के कारण किसी समाज का, जिसे नैसर्गिक समाज कहा जाता है, सदव्य बनता है। वह किसी विशिष्ट परिवार से तथा किसी विशिष्ट राष्ट्र से संबंधित होता है। इस सदस्यता के कारण उस पर कुछ निश्चित सामाजिक उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य भी लादे जाते हैं। उनकी पूर्ति करना उसके लिए अनिवार्य होता है और उनके उल्लंघन से उसे सामाजिक दृष्टि से अयोग्य मानकर दंड दिया जाता है, जब कि उसी के साथ उसे कुछ अधिकार तथा सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं। इस संदर्भ में प्राचीन तथा आधुनिक, दोनों समाज समान हैं। परंतु जैसा कि प्रो. स्मिथ ने कहा है[1] :

> ''यहां यह महत्वपूर्ण भेद है कि संसार की आधुनिक व्याख्या के संदर्भ में प्राचीन संसार का आदिम समाज अथवा राष्ट्रीय समाज वस्तुतः एक नैसर्गिक

1. *दि रिलीजन ऑफ सैमाइट्स*

समाज नहीं था, क्योंकि मनुष्यों के समान देवताओं की भूमिका और अस्तित्व था। जिस समुदाय में मनुष्य का जन्म होता था, वह केवल उसके सगे-संबंधियों तथा अन्य सहयोगी नागरिकों का समुदाय ही नहीं होता था, बल्कि उसे कुछ दिव्य विभूतियों, जैसे कि परिवार तथा राज्य के देवताओं को भी अंगीकार करना पड़ता था। प्राचीन मत के अनुसार यह सब-कुछ किसी विशेष समुदाय का एक अभिन्न भाग होता था, जैसा कि कोई मानव सदस्य किसी सामाजि समुदाय का एक भाग होता है। प्राचीन काल के देवताओं और उनके उपासकों का आपसी संबंध मानवी संबंधों की भाषा से व्यक्त किया जाता था, जिसका काव्यात्मक नहीं, बल्कि शाब्दिक अर्थ होता था। यदि किसी देवता को पिता, और उसके उपासकों को उसकी संतान कहा जाए, तब उसका शब्दश: अर्थ यही होता था कि ये उपासक उसकी उत्पत्ति हैं, और उस देवता तथा उसके उपासकों का एक नैसर्गिक परिवार बन जाता जिसमें उसके एक-दूसरे के प्रति परस्पर पारिवारिक कर्तव्य हैं। अथवा, यदि किसी देवता को राजा के रूप में और उसके उपासकों को उसके सेवकों के रूप में संबोधित किया जाए, तब उसका अर्थ यही होता था कि शासन चलाने के सर्वोच्च अधिकार उस देवता के हाथों में ही हैं और उसके अनुसार शासन पद्धति में सभी महत्वपूर्ण मामलों पर उसकी राय जानने, उसके आदेश प्राप्त करने और इसके साथ ही उसके प्रति राजा के समान आदर-सम्मान व्यक्त करने का प्रबंध होता था।

''इस प्रकार से किसी भी मनुष्य का किन्हीं विशेष देवताओं के साथ जन्म से ही उसी प्रकार का संबंध होता था, जिस प्रकार का उसका अन्य सहयोगी मनुष्यों के साथ होता है और उसके इन देवताओं के साथ संबंधों के आधार पर उसका धर्म निश्चित होता था जो उसके आचरण का एक भाग है। यह आचरण उस सर्वसाधारण आचार-संहिता का एक भाग माना जाता था, जो उस समाज के सदस्य के रूप में उस पर लागू होती थी। धर्म का क्षेत्र और सामान्य जीवन, दोनों के साथ संबंध होता था, क्योंकि सामाजिक रचना केवल मनुष्य से ही नहीं, बल्कि मनुष्य और देवता, दोनों से मिलकर की गई थी।''

''इस प्रकार से प्राचीन समाज में मनुष्य तथा उसके देवता, दोनों को मिलाकर समाज की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संरचना की जाती थी। धर्म की स्थापना देवता और उसके उपासकों की घनिष्ठता के आधार पर की जाती थी। आधुनिक समाज ने देवताओं को अपनी सामाजिक संरचना से अलग कर दिया है। अब उसमें केवल मनुष्यों का समावेश है।''

प्राचीन समाज और आधुनिक समाज में जो दूसरा भेद है, उसका संबंध समाज तथा देवता के बीच रिश्तों से है। प्राचीन संसार में विभिन्न जातियां–

> ''अनेक देवताओं के अस्तित्व में विश्वास रखती थीं, क्योंकि वे अपने स्वयं के तथा अपने शत्रुओं के देवताओं को भी स्वीकार किया करती थीं। परंतु जिनसे इन्हें किसी लाभ की अपेक्षा नहीं होती थी और जिन पर चढ़ाई गई भेंट तथा दान लाभदायक नहीं मानती थी। ऐसे अपरिचित देवताओं की वे पूजा नहीं करती थी। प्रत्येक समुदाय का अपना एक देव, अथवा शायद देव तथा देवियां हुआ करते थे और उनका अन्य देवताओं के साथ किसी प्रकार का कोई रिश्ता नहीं होता था।''

प्राचीन समाज के देवता एक निराला देवता था।[1] उस देवता का केवल एक ही जाति के साथ संबंध होता था और उस पर उसी एक जाति का अधिकार होता था। यह बात निम्न प्रकार से स्पष्ट होती है :

> ''देवता अपने उपासकों के झगड़ों तथा युद्धों में भाग लेते थे। देवता के शत्रु और उसके उपासकों के शत्रु एक ही हुआ करते थे। इतना ही नहीं *ओल्ड टेस्टामेंट* में 'जहोवा के शत्रु' मौलिक रूप से वही हैं, जो इजराइल के शत्रु थे। युद्ध में प्रत्येक देवता अपने लोगों के लिए ही लड़ता है, और उसकी सहायता से ही सफलता मिलती है, ऐसा माना जाता है। चेमोश ने मोआव की, और एशर ने असीरिया की सफलता का कारण बताया और कई बार इन दैवी प्रतिमाओं को अथवा चिह्नों को लड़ने वाले युद्ध में साथ ले जाते थे। जब आर्क को इजरालत के डेरे में लाया गया, तब फिलीस्टाईन ने कहा, 'आर्क के रूप में देवता का हमारे डेरे में आगमन हुआ है और वह निश्चित ही अपनी सामर्थ्य से हमें सफलता हासिल करा देगा, क्योंकि जब डेविड उनका बालापेराजिम में पराभव किया, तब लूट के माल में उन देवताओं की प्रतिमाए शामिल थीं, जो वे युद्ध-भूमि में अपने साथ ले गए थे। मेसीडोन के फिलिप राजा के साथ 'कार्थजिनियंस' लोगों का जो समझौता हुआ था, उसमें उन लोगों ने इस तरह उल्लेख किया है- 'अभियान में भाग लेने वाले देवता' का निस्संदेह उन पवित्र शिविरों के वासियों से संबंध है, युद्ध-भूमि में जिनका शिविर मुख्य सेनापति के शिविर के साथ लगाया गया था और जिसके सामने विजय के बाद कैदियों की बलि दी गई थी। उसी प्रकार से

---

1. *दि रिलीजन ऑफ* सैमाइट्स

किसी अरब कवि ने कहा था, 'युगूथ हमारे साथ मोराद के विरुद्ध आया।' इसका मतलब है कि युगूथ देवता की प्रतिमा युद्ध में साथ लाई गई थी।''

इस तथ्य से यह सिद्ध होता है कि देवता और समाज में दृढ़ सामंजस्य था।

''अत: देवता और उनके उपासकों के बीच सामंजस्य के इस तत्व के आधाार पर बने राजनीतिक समाज के विशेष गुण धार्म के क्षेत्र में परिलक्षित होते हैं। इसी प्रकार से, जब किसी भी समुदाय अथवा गांव के देवता का उन लोगों की आराधना तथा सेवा पर निर्विवाद अधिकार होता है जिनका वह देवता होता है, तब वह उनके शत्रुओं का शत्रु भी होता है और उन लोगों के लिए अनजान होता है, जिन्हें वे लोग नहीं जानते।[1]''

इस तरह देवता का एक समुदाय के साथ और समुदाय का अपने देवता के साथ संबंध स्थापित हो गया। देवता उस समुदाय का देवता और वह समुदाय उस देवता का मनोनीत समुदाय बन गया।

इस दृष्टिकोण के दो परिणाम हुए। प्राचीन समाज ने यह सिद्धांत कभी भी इस धारणा के रूप में स्वीकार नहीं किया कि देवता विश्वव्यापी है और वह सभी का देवता है। प्राचीन समाज में कमी थी यह धारणा नहीं बनी कि इस सबके अलावा समाज में मानवता नाम की कोई वस्तु है।

प्राचीन और आधुनिक समाज में जो तीसरा मतभेद है, उसका संबंध देवता के पितृत्व की संकल्पना के साथ है। प्राचीन समाज में देवता को लोगों का पिता माना जाता था, परंतु इस पितृत्व की संकल्पना का आधार शारीरिक माना गया था।

''मूर्ति-पूजक धर्मों में देवताओं के पितृत्व के रूप में माना जाता था। उदाहरण के लिए, ग्रीक लोगों की यह कल्पना कि जिस प्रकार से कुम्हार माटी से प्रतिमाएं बनाता है, उसी प्रकार से देवताओं ने मनुष्यों को मिट्टी से आकार प्रदान किया है; यह एक प्रकार से आधुनिक कल्पना है। पुरानी धारणा यह है कि मनुष्य दोनों की माता है और इस तरह मनुष्य वास्तव में देवताओं के वंश के अथवा उनके स्वजन बन जाते हैं। यही धारणा पुराने सेमाइट्स लोगों में बनी थी, ऐसा *बाइबिल* से स्पष्ट होता है। जैरेमिह लोग इन मूर्तियों का अपने पूर्वजों के रूप में वर्णन करते हैं जैसे, तुम मेरे पिता हो; और उस पत्थर को कहते हैं, तुम मुझे इस संसार में लाए। प्राचीन कविता नुम 21-29 में, मोआब लोगों को चेमोश देवता के पुत्र-पुत्री कहा गया है, और बहुत ही

1. *दि रिलीजन ऑफ* सैमाइट्स

आधुनिक समय में मलाचि नाम के धर्मोपदेशक ने किसी मूर्तिपूजक स्त्री को 'विलक्षण देवता की पुत्री, कहा है। निस्संदेह यह सभी संबोधान उस भाषा का एक भाग है, जो इजराइल के पड़ोसी लोग अपने लिए प्रयोग करते थे। सीरिया और पेलेस्टिनियन देशों में प्रत्येक जाति अथवा अनेक छोटी जातियों का एक जमघट भी अपने-आपकों स्वतंत्र जाति के रूप में मानता है, और अपनी मूल उत्पत्ति का संबंध उस प्रथम पितामह (देवता) के साथ जोड़ता है। ग्रीक देश के लोगों की तरह उनके लिए भी यह पितामह अथवा वंश का उत्पत्तिदाता वंश का देवता ही होता है। बहुत से नवीनतम अन्वेषकों के अनुमान से ईसाई धर्म की पुस्तक के पहले खंड में प्रांतों की पुरानी वंशावली में अनेक देवताओं के नाम पाए जाते हैं। यह बात इस विचार के अनुरूप ही है। उदाहरण के तौर पर, एडोमाईट लोगों के उत्पत्तिदाता एडम की हिब्र लोगों ने जेकब के भाई ईशु के साथ पहचान बताई है, परंतु मूर्तिपूजकों के लिए वह देवता था। यह बात 'ओबेडेडम' लोगों से स्पष्ट होती है, जो 'एडम के उपासक' हैं। फोयनिशियन और बेबिलयन वंशों के वर्तमान वंशों की उत्पत्ति तब हुई, जब प्राचीन धर्म और प्रत्येक देवता को किसी जाति विशेष के साथ संबंधित होने की बात लोग भूल गए थे अथवा यह बात महत्वहीन बन गई थी परंतु सर्वसाधारण रूप में यह धारणा आज भी प्रचलित है कि मनुष्य देवताओं की संतान है। फिलो बेबलिस वंश के लोगों के विश्व-निर्माण के फोयनिशियन सिद्धांत में यही धाारणा कुछ अस्पष्ट रूप से व्यक्त की गई है। इसका कारण लेखक का संकेच था। इस सिद्धांत के अनुसार, देवता दैवी पुरुष होते हैं, जो अपनी जाति के लिए **महान उद्धारक का कार्य करते हैं। उसी प्रकार से बेरोसस लोगों की चाल्डियन** पौराणिक कथा में यह धाारणा कि मनुष्य भी देवों के रक्त संबंध के ही होते हैं, बहुत ही अपरिपक्व रूप से व्यक्त की गई है। यह कथा बहुत प्राचीन समय की नहीं है। इसमें यह कहा गया है कि पशु-पक्षी तथा मनुष्य, सभी को उस मिट्टी से बनाया गया, जिसमें किसी सिर कटे देवता का रक्त मिलाया गया था।[1]''

मनुष्य और देवताओं के इस खून के रिश्ते की कल्पना का एक महत्वपूर्ण परिणाम हुआ। प्राचीन संसार के लिए देवता भी मानव ही था और इसलिए वह परिपूर्ण सद्‌गुण तथा उत्तमता के योग्य नहीं था। देवताओं का स्वभाव भी मनुष्यों से मिलता-जुलता था, इसलिए मनुष्यों में जो भावनाएं, बीमारी तथा दुर्गुण पाए जाते हैं, वे उनमें भी होते थे। प्राचीन संसार के देवताओं की मनुष्यों के समान वासनाएं तथा आवश्यकताएं

1. *दि रिलीजन ऑफ* सैमाइट्स

थीं और कई बार वे भी उन दुर्गुणों में व्यस्त हुआ करते थे, जिनसे अनेक लोग ग्रस्त थे। उपासकों को अपने देवताओं की इस बात के लिए प्रार्थना करनी पड़ती थी कि कहीं वे भी उन्हें लालच की ओर न ले जाएं।

आधुनिक समाज में दैवी पितृत्व की कल्पना का प्राकृतिक आधार पर नैसर्गिक पितृत्व से पूर्ण रूप से संबंध विच्छेद हो गया। उसके स्थान पर यह कल्पना प्रचलित हो गई कि मनुष्य की देवता के रूप में निर्मिति होती है, वह वास्तव में देवता से उत्पन्न नहीं होता। देवता के पितृत्व की कल्पना में आए इस परिवर्तन को यदि नैतिक दृष्टि से देखा जाए, तो उसके कारण देवता के सृष्टि के संचालनकर्ता रूप में बहुत भारी परिवर्तन आया है। देवता को उसके प्राकृतिक रूप में परिपूर्ण उत्तमता और सद्गुणों के योग्य नहीं माना जाता था और जब देवता ही अपने सदाचार में परिपूर्ण नहीं था, तब उसके अनुसरण से यह सृष्टि भी सदाचार से परिपूर्ण हो, ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। देवता के मनुष्य के साथ शारीरिक संबंधों के विच्छिन होने के कारण अब यह कल्पना की हो सकती है कि देवता उत्तमता एवं सद्गुणों से परिपूर्ण हो।

मतभेद का चौथा मुद्दा, जब राष्ट्रीयता में परिवर्तन होता है, तब धर्म को जो भूमिका निभानी पड़ती है, उससे संबंधित है।

प्राचीन संसार में जब तक धर्म-परिवर्तन न किया जाए, राष्ट्रीयता में परिवर्तन नहीं हो सकता था। प्राचीन संसार में–

> ''किसी व्यक्ति के लिए अपनी राष्ट्रीयता में परिवर्तन किए बगैर धर्म-परिवर्तन करना असंभव था और संपूर्ण जाति के लिए धर्म परिवर्तन करना तब तक असंभव था जब तक कि उन्हें किसी जाति में अथवा राष्ट्र में पूर्ण रूप से समाहित न कर लिया जाए। राजनीतिक संबंधों की तरह धर्म भी पुत्र को अपने पिता से प्राप्त होता था, क्योंकि मनुष्य अपनी इच्छाओं से नए देवता का चयन नहीं कर सकता था। अपने रिश्ते-नातों का त्याग करके उसे दूसरे नागरिक जीवन तथा धार्मिक जीवन के समुदाय में जब तक स्वीकार न किया जाए, तब तक उसके लिए उसके पिता के देवता ही एकमात्र ऐसे देवता होते थे, जिन पर वह मैत्री के लिए निर्भर रह सकता था और जो उसकी पूजा को स्वीकार कर सकते थे।''

सामाजिक एकरूपता के लिए धर्म-परिवर्तन की कसौटी कि तरह आवश्यक होती थी, यह बात *ओल्ड टेस्टामेंट* के 'नाओमी' और 'रूथ' के बीच संवाद से स्पष्ट होती है।

नाओमी रूथ से कहता है, 'तुम्हारी बहन उसके अपने लोगों में और अपने देवताओं में चली गई है।'

और रूथ उत्तर देता है, 'तुम्हारे लोग मेरे लोग होंगे और तुम्हारा ईश्वर मेरा ईश्वर होगा।'

यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि प्राचीन संसार में राष्ट्रीयता में परिवर्तन के लिए संप्रदाय (पंथ) में परिवर्तन अनिवार्य था। सामाजिक एकरूपता का मतलब धार्मिक एकरूपता था।

आधुनिक समाज में सामाजिक एकरूपता के लिए किसी एक धर्म का त्याग करना अथवा दूसरे धर्म को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। यह बात आधुनिक व्याख्या में, जिसे स्वाभाविकरण कहा जाता है, स्पष्ट होती है, जिसमें एक राज्य का नागरिक अपनी नागरिकता का त्याग करता है और किसी नए राज्य का नागरिक बनता है। स्वाभाविकरण की इस प्रक्रिया में धर्म का कोई स्थान नहीं है। कोई भी व्यक्ति धार्मिक एकरूपता प्राप्त कर सकता है और इसी का दूसरा नाम स्वाभाविकरण है।

आधुनिक समाज के प्राचीन समाज से भिन्नता स्पष्ट करने के लिए केवल इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है कि आधुनिक समाज केवल मनुष्यों का बना है। उसके साथ, यह बात भी माननी होगी कि आधुनिक समाज उन मनुष्यों का बना है, जो भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा करते हैं।

मत-भिन्ता का पांचवां मुद्दा धर्म के एक भाग के रूप में देवताओं के स्वरूप के ज्ञान से संबंधित है।

> ''प्राचीन दृष्टिकोण से देवता स्वयं क्या है, यह प्रश्न धार्मिक नहीं किन्तु काल्पनिक है। धर्म के लिए यह आवश्यक है कि देवता जिन नियमों का पालन करते हैं, उनके उपासकों को उनकी व्यावहारिक जानकारी हो, और वे उनसे तदनुसार आचरण करने की अपेक्षा करते हैं। इसे 2 किंग्स के पाठ 17, श्लोक 26 में धरती के 'आचार' अथवा प्राय: 'पारंपरिक नियम' (मिस्फात) कहा गया है। यह बात इजराइल के धर्म के लिए भी लागू है। जब धर्मोपदेशक अपनी सरकार के कानूनों तथा सिद्धांतों के ज्ञान की बात करते हैं और पूरे धर्म का सार स्पष्ट करते हैं, तब वह 'जहोवा का ज्ञान तथा भय' ही है अर्थात् जहोवा ने क्या निर्देश दिए हैं, वे निर्देश और उनका आदरयुक्त पालन। धर्मोपदेशकों के ग्रंथों में सभी धार्मिक सिद्धांतों के प्रति अत्यधिक संदेह व्यक्त किया गया है जो धर्मनिष्ठ व्यक्ति के लिए उचित है, क्योंकि कितनी भी चर्चा की जाए, वह मनुष्य को इस सरल नियम के

> आगे नहीं ले जा सकती है कि वह 'ईश्वर से डरे और उसकी आज्ञा का पालन करे।' यह उपदेश लेखक ने सोलोमन के मुख से दिया है और इसलिए वह, अन्यायपूर्ण पद्धति से नहीं, बल्कि धर्म के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण का निश्चित ही प्रतिनिधित्व करती है, जिसका दुर्भाग्य से आधुनिक काल में महत्व धीरे-धीरे कम हो गया।''

मत-भिन्नता का छठा मुद्दा धर्म में आस्था का जो स्थान है, उससे संबंधित है। प्राचीन समाज में–

> ''यदि स्पष्ट कहा जाए, तो संस्कार तथा व्यावहारिक परंपराएं, यही प्राचीन धर्म का कुल-मिलाकर सार था प्राचीन काम में धर्म व्यावहारिक रूप से आस्था की पद्धति नहीं थी, इसे एक स्थिर पारंपरिक क्रिया की संस्था माना जाता था, जिसमें समाज का प्रत्येक सदस्य निर्भय सहमति व्यक्त करता था। मनुष्य मनुष्य नहीं होगा यदि वह बिना किसी तर्क के कोई कार्य करने के लिए सम्मति दे; परंतु प्राचीन धर्म में पहले तर्कों की सिद्धांत रूप में रचना करके बाद में उस पर आचरण नहीं किया गया। इसके विपरीत, पहले आचरण किया गया और बाद में सिद्धांतों की रचना की गई। मनुष्यों ने सर्वसाधाारण तत्वों को शब्दों में व्यक्त करने के पहले आचार-संहिता के नियम बनाए। राजनीतिक संस्थाएं धार्मिक सिद्धांतों से पुरानी हैं और इसी प्रकार धार्मिक संस्थाएं धार्मिक सिद्धांतों से पुरानी हैं। इस तुलना का चयन किसी ने अपनी मर्जी से नहीं किया है, क्योंकि प्राचीन समाज में वास्तव में धार्मिक तथा राजनीतिक संस्थाओं में परिपूर्ण समानता थी। प्रत्येक क्षेत्र में पूर्व प्रथा तथा संस्कारों का भारी महत्व था। परंतु इस पूर्व परंपरा का पालन क्यों किया जाता है, इसका स्पष्टीकरण केवल उसकी प्रथम स्थापना की किंवदंती बताकर दिया जाता था। कोई भी प्रथा, एक बाद स्थापित हो जाए, उसे अधिकार-युक्त माना जाता था, और उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती थी। समाज के नियम पूर्व निर्णयों पर आधारित होते थे और समाज का अस्तित्व निरंतर बना रहा है, और इस बात को न्यायसंगत ठहराने के लिए यही कारण पर्याप्त था कि एक प्रथा स्थापित हो जाने के बाद उसे जारी क्यों न रखा जाए।''

मत-भिन्न्ता का सातवां मुद्दा धर्म से व्यक्तिगत विश्वास से संबंधित है। प्राचीन समाज में–

> ''मनुष्य जिस समाज में जन्म लेता है, उस समाज के संगठित सामाजिक जीवन का धर्म एक हिस्सा था और मनुष्य अपने जीवन में उसका अवचेतनावस्था

> में उसी प्रकार पालन करता रहता था, जिस प्रकार किसी समाज में रह रहा व्यक्ति उसकी व्यावहारिक प्रथाओं का पालन करता है। जिस प्रकार व्यक्ति राज्य की अनेक प्रथाओं को मानकर उनका अनुसरण करता है, उसी प्रकार देवताओं तथा उनकी उपासना को भी स्वीकार करता है और यदि उन्होंने उस पर कोई बहस की अथवा संदेह प्रकट किया तो वह भी इसी धारणा पर आधारित होता था कि पारंपरिक प्रथाएं स्थिर हैं और उससे परे हटकर कोई भी बहस नहीं की जानी चाहिए और उन्हें किसी भी तर्क के आधार पर बदलने की स्वतंत्रता नहीं थी। हमारे लिए आधुनिक धर्म सर्वप्रथम वैयक्तिक विश्वास तथा तर्कपूर्ण श्रद्धा की बात है, किन्तु प्राचीन लोगों के लिए वह प्रत्येक नागरिक के सार्वजनिक जीवन का भाग था, जो किन्ही निश्चित रूपों में बंधा था और जिसे समझाने की उसे जरूरत नहीं थी और न ही उसे उसकी आलोचना अथवा उपेक्षा करने की स्वतंत्रता थी। धार्मिक अवज्ञा शासन के विरुद्ध अपराध माना जाता था। अगर पवित्र परंपराओं से खिलवाड़ किया जाए तो समाज का आधार भी टूट जाता है, और ईश्वर की कृपा से भी वंचित होना पड़ता है। परंतु जब तक मनुष्य निर्देशित आज्ञाओं का पालन करता था, तब तक उसे सच्चे धार्मिक मनुष्य के रूप में मान्यता थी और उसे किसी से यह नहीं पूछना पड़ता था कि धर्म उसके अंतःकरण में कितना बस गया है अथवा उसके विवेक पर उसका क्या प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक कर्तव्यों की तरह, जिसका वह एक अविभाजित भाग था, धर्म भी पूर्णतः बाह्य आचरण के कुछ निश्चित नियमों के पालन से ही ग्रहण किया जाता था।''

मतभेद का आठवां मुद्दा, देवता के समाज तथा मनुष्य के साथ संबंध और देवता के अधिकारों के संदर्भ में समाज के साथ संबंधों के बारे में है।

पहले हम देवता के समाज के साथ संबंधों में मत-भिन्नता को देखें। इस संबंध में हमारे लिए तीन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

प्राचीन विश्व की श्रृद्धा ने-

> ''भगवान से प्राकृतिक सुखों से अधिक कुछ नहीं मांगा।.......भगवान के सम्मुख जो उत्तम मनोकामनाएं रखी जाती थीं, वह सुखी संसारिक जीवन, विशेषकर भौतिक आवश्यकताएं ही होती थीं।''

प्राचीन समाज जो चीजें मांगता था और विश्वास रखता था कि वह उसे अपने देवता से मिलेंगी, वे मुख्य रूप से निम्नलिखित होती थीं :

> ''भरपूर उपज, शत्रु के विरुद्ध सहायता और नैसर्गिक आपत्तियों में देववाणी द्वारा उपदेश अथवा किसी वक्ता द्वारा सलाह।''

प्राचीन संसार में–

> ''धर्म एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि सारे समाज का विषय था। पूरे समाज को, न कि एक व्यक्ति को देवता के स्थिर और कभी असफल न होने वाली भूमिका में विश्वास था।''

अब हम देवता के साथ संबंधों के अंतर को देखें।

> ''प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण की ओर विशेष रूप से ध्यान देना मूर्तिपूजा के देवताओं का कार्य नहीं था। यह सच है कि लोग अपनी निजी बातें देवता के सामने रखते और उससे प्रार्थना तथा इच्छा व्यक्त करके व्यक्तिगत आशीर्वाद मांगते थे। लेकिन ऐसा वे इस प्रकार करते थे जैसे किसी राजा से कोई निजी उपहार की मांग करता है अथवा जैसे कोई पुत्र अपने पिता से कुछ उपहार मांगते हैं और यह अपेक्षा नहीं करता कि वह सब मिल जाएगा, जिसकी वह मांग कर रहा है। ऐसे प्रसंगों पर देवता यदि कुछ दे भी दे तो उसे एक निजी उपहार ही माना जाता था और देवता के समाज के प्रमुख के रूप में जो योग्य कर्तव्य थे, उसका यह भाग नहीं था।
>
> मनुष्य के नागरिक जीवन पर देवताओं का नियंत्रण था। वे उसे सार्वजनिक लाभ, अनाज की वार्षिक उपज तथा भरपूर फसल, राष्ट्रीय शांति अथवा शत्रु पर विजय आदि लाभ पहुंचाते थे। परंतु वे प्रत्येक निजी आवश्यकता में सहायता करेंगे ही, यह आवश्यक नहीं था, और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि देवता किसी भी व्यक्ति की उन कामों में मदद नहीं करते थे, जो समूचे समाज के हितों के विरुद्ध होते थे। इसलिए उन सभी संभावित आवश्यकताओं तथा इच्छाओं का, जिन्हें धर्म पूरा करेगा अथवा नहीं करेगा। एक अलग क्षेत्र बना हुआ था।''

अब, देवता तथा समाज की मनुष्य के प्रति जो भावना है, उसके अंतर को देखते हैं।

प्राचीन संसार में समाज का व्यक्तिगत कल्याण से लगाव नहीं होता था। निस्संदेह देवता समाज से बंधा होता था। परंतु–

> ''देवता तथा उसके उपासकों में ऐसा कोई समझौता नहीं था कि समाज में प्रत्येक सदस्य की निजी चिंता को देवता अपनी चिंता मानें।

विशेष रूप से फलदायी मौसम, पशुधन में वृद्धि तथा युद्ध में विजय, ऐसे सार्वजनिक लाभ, जो सारे समाज को प्रभावित करते हैं, इनकी देवताओं से अपेक्षा की जाती थी और जब तक समाज फल-फूल रहा है, तब तक किसी का व्यक्तिगत दुख दिव्य देवता की किसी भी प्रकार अवमानना नहीं करता था।''

इसके विपरीत, प्राचीन संसार किसी मनुष्य के दुख को प्रमाण मानता था–

''कि ऐसे व्यक्ति ने कुकर्म किया था और देवताओं की घृणा न्यायपूर्ण थी। ऐसे मनुष्य के लिए उन लोगों के बीच कोई स्थान नहीं होता था, जो किसी उत्सव को मनाने के लिए देवता के समक्ष खड़े हों।''

इस दृष्टिकोण के अनुसार ही कोढ़ से पीड़ित तथा शोकग्रस्त लोगों को धर्म के पालन से तथा सभी सामाजिक सुविधाओं से बाहर रखा जाता था और ऐसे व्यक्ति को उस देवस्थान पर नहीं लाया जाता था, जहां प्रसन्न तथा धनी लोगों की भीड़ समारोह मनाने के लिए एकत्र होती थी।

जहां तक व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति तथा समाज के बीच का विवाद है, देवता का उसके साथ कोई संबंध नहीं होता। प्राचीन संसार में–

''मनुष्य के कार्यों में होने वाली भूलों को सुधारने में देवता निरंतर व्यस्त रहें, ऐसी उनसे अपेक्षा नहीं की जाती थी। सामान्य बातों में मनुष्यों का यह कर्तव्य था कि वे अपनी और सगे-संबंधियों की सहायता करें, यद्यपि यह धारणा कि देवता हमेशा हमारे साथ हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसे बुलाया जा सकता है, समाज को एक प्रकार की नैतिक शक्ति प्रदान करती थी और उससे हमेशा समाज में सदाचार और नैतिक व्यवस्था बनी रहती थी। किन्तु सही अर्थ में देखा जाए तो इस नैतिक शक्ति का प्रभाव बहुत ही अनिश्चित हुआ करता था क्योंकि प्रत्येक अनाचारी के लिए खुशफहमी की यह भावना बनी रहती थी कि उसका अपराध अनदेखा कर दिया जाएगा। प्राचीन संसार में मनुष्य की देवता से न्यायसंगत रहने की अपेक्षा नहीं थी। चाहे कोई नागरिक समस्या हो अथवा अनाचार की बात हो, प्राचीन लोगों की प्रवृत्ति समाज के बारे में ज्यादा सोचने की और व्यक्ति के बारे में कम सोचने की होती थी, और कोई भी व्यक्ति उसे अन्यायपूर्ण नहीं मानता था, यद्यपि यह बात स्वयं उससे संबंधित होती थी। देवता पूरे राष्ट्र का अथवा पूरे कबीले का हुआ करता था और वह किसी व्यक्ति की चिंता समुदाय के एक सदस्य के रूप में ही करता था।''

'अपने निजी दुर्भाग्य के लिए' मनुष्य की प्रवृत्ति प्राचीन संसार में इसी प्रकार थी। मनुष्य देवता के समक्ष प्रसन्न होने के लिए जाता था और–

> ''अपने देवताओं के सामने प्रसन्न होते समय मनुष्य अपने सगे-संबंधियों, पड़ोसियों के साथ उनके तथा देश के लिए प्रसन्न होता था। वह अपनी उपासना से देवता के साथ अपने बंधन का एक प्रतिज्ञा के रूप में नवीकरण करता था और साथ ही अपने पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के बंधनों का भी स्मरण कर उन्हें दृढ़ आधार प्रदान करता था।''

प्राचीन संसार में मनुष्य ने कभी भी अपने विधाता से उपासना करते समय यह नहीं कहा कि वह उसके प्रति न्यायसंगत व्यवहार करे।

धर्म में यह दूसरी क्रांति ऐसी है।

इस प्रकार से दो धार्मिक क्रांतियां हुई हैं। एक बाहरी क्रांति थी, दूसरी आंतरिक क्रांति थी। बाह्य क्रांति का संबंध धर्म के अधिकार-क्षेत्र से संबंधित था। आंतरिक क्रांति, धर्म में मानव समाज को नियंत्रित करने की दैवी योजना के रूप में जो परिवर्तन हुए, उससे संबंधित थी। बाह्य क्रांति को वास्तव में धार्मिक क्रांति नहीं माना जा सकता है। वह एक प्रकार से, जो क्षेत्र धर्म के अधीन नहीं थे, उनका अनधिकृत विस्तार था, उनके विरुद्ध विज्ञान का विद्रोह था। आंतरिक क्रांति को सही रूप में क्रांति माना जा सकता है और उसकी तुलना किसी भी अन्य राजनीतिक क्रांति के साथ की जा सकती है, जैसे फ्रांसीसी क्रांति अथवा रूसी क्रांति। उसमें संवैधानिक बदलाव का अंतर्भाव था। इस क्रांति से दैवी नियंत्रण की योजना में सुधार हुआ, बदलाव आया और उसकी संवैधानिक पुनर्रचना हुई।

इस अंदरूनी क्रांति ने प्राचीन समाज के दैवी प्रशासन की योजना में कितने व्यापक बदलाव किए, यह बात सहजता से देखी जा सकती है। इस क्रांति से देवता समाज का सदस्य नहीं रहा, इस कारण वह समदर्शी बन गया। संसार के व्यावहारिक अर्थ में देवता मनुष्य का पिता नहीं रहा, वह विश्व का निर्माता बन गया। खून का यह रिश्ता टूटने से यह धारणा बनाना संभव हो गया कि देवता उत्तम है। इस क्रांति के कारण मनुष्य देवता का अंधभक्त नहीं रहा, जो उसकी आज्ञा का पालन करने के अलावा कुछ नहीं करता। इसके कारण, मनुष्य एक ऐसा जिम्मेदार व्यक्ति बन गया, जिस देवताओं की आज्ञाओं के प्रति अपनी विवेकपूर्ण श्रद्धा के औचित्य को सिद्ध करना पड़ता था। इस क्रांति के कारण, देवता समाज का संरक्षणकर्ता है, यह धारणा नहीं रही और सामाजिक हित-संबंध ठोस रूप में दैवी-व्यवस्था का केंद्र नहीं रहे। इसके स्थान पर मनुष्य उसका केंद्र बिंदु बन गया।

एक दैवी प्रशासन के रूप में धर्म के प्रति स्थापित धारणाओं में जो क्रांति हुई, उसका इस प्रकार विश्लेषण करने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि धर्म के दर्शन का मूल्यांकन करने के लिए कुछ नियम खोजे जा सके। कोई उतावले स्वभाव का पाठक

यह पूछ सकता है कि वह नियम कहां हैं और वे क्या हैं? उपरोक्त चर्चा में शायद पाठक को इन नियमों का उनके नाम से उल्लेख नहीं मिला होगा। परंतु यह बात उसके ध्यान में आएगी कि यह संपूर्ण धार्मिक क्रांति, क्या सही है और क्या गलत है, इन मानदंडों को परखने के इर्द-गिर्द ही घूम रही थी। यदि वह इस बात को नहीं समझता, तो मुझे उस बात को सुस्पष्ट करने दिया जाए, जो इस सारी चर्चा में अस्पष्ट है। हमने अपनी चर्चा प्राचीन समाज तथा आधुनिक समाज में जो अंतर है, उससे आरंभ की थी, और जैसा कि हमने देखा है, उन्होंने अपने धार्मिक आदर्श के रूप में दैवी शासन की जिस योजना को स्वीकार किया, उसमें भिन्नता है। क्रांति के एक सिरे पर वह प्राचीन समाज है, जिसके धार्मिक आदर्श का लक्ष्य उसका समाज था। क्रांति के दूसरे सिरे पर वह आधुनिक समाज है, जिसके धार्मिक आदर्श का लक्ष्य एक व्यक्ति था। इन्हीं तथ्यों को यदि हम नियमों में ढाल दें, तो हम कह सकते हैं कि प्राचीन समाज के लिए सही अथवा गलत बात को परखने के लिए जो नियम अथवा कसौटी थी, वह थी ''उपयोगिता'', जब कि आधुनिक समाज के लिए यह 'न्याय' है। इस प्रकार, जिस समाज में केंद्रीय भावना समाज से व्यक्ति में बदल गई, वह एक प्रकार की नियमों की क्रांति थी।

मैंने जो नियम सूचित किए हैं, शायद कुछ लोग उसका विरोध करें। कदाचित, यह उनके लिए एक नया रास्ता होगा। परंतु मेरे मन में कोई संदेह नहीं है कि धर्म के दर्शन को परखने के लिए यही वास्तविक नियम है। पहली बात, यह नियम लोगों को, मनुष्य के आचरण में क्या सही और क्या गलत है, यह परखने योग्य बनाए; दूसरे, यह नियम, नैतिक उत्तमता जिससे बनी है, उसकी वर्तमान धारणाओं के अनुरूप हो। इन दोनों दृष्टिकोणों से वे नियम सही दिखाई देते हैं। क्या सही है और क्या गलत है, ये नियम हमें यह परखने की योग्यता देते हैं। जिस समाज ने उनको स्वीकार किया है, यह नियम उसके अनुरूप ही हैं क्योंकि वहां लक्ष्य था। समाज और सामाजिक उपयुक्तता को ही नैतिक आचरण माना जाता था। न्याय, यह कसौटी आधुनिक समाज के अनुरूप है, जिसमें व्यक्ति को लक्ष्य माना गया है और उस व्यक्ति को न्याय मिले, इसे ही नैतिक उत्तमता माना गया है। यह विवाद का विषय हो सकता है कि इन दो प्रकार के नियमों में से कौन-सा नियम नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। परंतु मैं नहीं सोचता कि यह नियम नहीं है, इस बात पर कोई गंभीर विवाद हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि यह नियम श्रेष्ठ नहीं है। इस पर मेरा उत्तर यह है कि धर्म के दर्शन को परखने के नियम दैवी होने के साथ-साथ प्राकृतिक भी होने चाहिएं। कोई कुछ भी कहे, हिंदुत्व के दर्शन का परीक्षण करने के लिए मैं इन्हीं नियमों को स्वीकार करना चाहूंगा।

II

यह एक बहुत ही लंबी घुमावदार प्रक्रिया है, परंतु मुख्य विषय की छानबीन करने से पूर्व यह एक आवश्यक प्राथमिकता थी फिर भी, जब हम अन्वेषण की यह प्रक्रिया आरंभ करते हैं, तो हमारे सामने कुछ आरंभिक कठिनाई आती हैं। हिंदू ऐसी जांच-पड़ताल का सामना करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं कि या तो धर्म उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं है अथवा वे इस विचार की ओट ले लेते हैं-जिसे तुलनात्मक धर्म के अध्ययन से पुरस्कृत किया है-कि सभी धर्म अच्छे हैं। इस बात में कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि ये दोनों ही मत गलत और निराधार हैं।

धर्म एक सामाजिक शक्ति है, इस बात की अनदेखी नहीं की जा सकती। हेबर्ड स्पेंसर ने धर्म की अत्यंत सार्थक व्याख्या की है, जिसके अनुसार, 'किसी जाल की बुनाई में यदि इतिहास को ताना माना जाए तो धर्म एक ऐसा बाना है, जो उसके प्रत्येक स्थान पर आड़े आता है।' यह एक सच्चाई है, जो प्रत्येक समाज से संबंधित है। परंतु भारतीय इतिहास के ताने को धर्म न केवल हर स्थान पर बाना बनकर आड़े आता है, बल्कि हिंदु मन के लिए वह ताना भी है और बाना भी। हिंदू जीवन में धर्म उसके प्रत्येक क्षण को नियमित करता है। वह उसे आदेश देता है कि अपने जीवनकाल में कैसा आचरण करें, तथा उसकी मृत्यु के उपरांत उसके शरीर का क्या किया जाए। धर्म उसे यह बताता है कि स्त्री के साथ मिलने वाला सुख कब और कैसे प्राप्त करें। जब बच्चा पैदा हो जाए, कौन-कौन से धर्मानुष्ठान किए जाने हैं-उसका क्या नाम रखा जाए, उसके सिर के बाल कैसे काटे जाएं, उसको पहला भोजन कैसे कराया जाए, वह कौन-सा व्यवसाय करे, किस स्त्री के साथ विवाह करे, यह बात उसे धर्म बताता है। वह किसके साथ भोजन करे, कौन-सा अन्न खाए, कौन-सी सब्जी विधिवत् है और कौन-सी निषिद्ध, उसकी दिनचर्या कैसी हो, कितनी बार वह भोजन करे और कितनी बार प्रार्थना करे, धर्म इन सबका नियमन करता है। हिन्दू का ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसका धर्म में अंतर्भाव न हो अथवा जिसके लिए धर्म का आदेश न हो। यह बहुत विचित्र प्रतीत होता है कि शिक्षित हिंदू इस बात को अधिक महत्व नहीं देता, मानो यह कोई उपेक्षा की बात हो।

इसके अलावा, धर्म एक सामाजिक शक्ति है। जैसा मैंने पहले स्पष्ट किया है, धर्म दैवी शासन की योजना का समर्थन करता है। यह योजना समाज के अनुसरण के लिए एक आदर्श बन जाती है। आदर्श अस्तित्वहीन हो सकता है, इस अर्थ में कि इसकी रचना अभी की जानी है। यद्यपि वह अस्तित्वहीन है, परंतु वास्तविक है क्योंकि, जैसे प्रत्येक आदर्श में कोई कार्य प्रवण शक्ति निहित होती है, उसी

प्रकार इस आदर्श में भी है। जो लोग धर्म के महत्व को नकारते हैं, वे लोग यह बात भूल जाते हैं। इतना ही नहीं, इस आदर्श के पीछे कितनी विराट शक्ति तथा मान्यता होती है, यह बात भी वे समझ नहीं सकते। शायद ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमें आदर्श और वास्तविक, दोनों में अंतर दिखाई देता है और ऐसा हमेशा ही होता है, चाहे हमारा आदर्श धार्मिक हो अथवा लैकिक। लेकिन दोनों आदर्शों की तुलनात्मक शक्ति नापने की एक और कसौटी है वह है, मनुष्य की स्वाभाविक अंत:प्रेरणा को कुचलने की उनकी शक्ति। आदर्श का संबंध कुछ ऐसी चीजों से होता है, जो दूरवर्ती होती है और मनुष्य की स्वाभाविक अंत:प्रेरणा का संबंध उसके प्रति समीप के वर्तमान से होता है अब जब हम दोनों आदर्शों को मनुष्य की स्वाभाविक अंत:प्रेरणा पर छोड़ देते हैं, तो दोनों में ही स्पष्ट रूप से भिन्नता नजर आती है। धार्मिक आदर्शों की आवश्यकताओं के सामने मनुष्य की स्वाभाविक अंत:प्रेरणा अपने-आप झुक जाती है, चाहे दोनों आदर्श एक-दूसरे के विरोधी हों। दूसरी ओर, यदि दो आदर्शों में संघर्ष होता है तब मनुष्य की स्वाभाविक अंत:प्रेरणा लौकिक आदर्श के सामने नहीं झुकती। इसका अर्थ है कि धार्मिक आदर्श का बिना किसी ऐच्छिक लाभ की आंकाक्षा के मानवता पर अधिाकार होता है। यही बात शुद्ध लौकिक आदर्श के बारे में नहीं कही जा सकती। उसका प्रभाव उसके भौतिक लाभ प्राप्त करा देने की शक्ति पर निर्भर होता है। मानव बुद्धि पर इन दोनों आदर्शों का जो प्रभाव और अधिकार है, उसमें कितना अंतर है, यह बात इससे स्पष्ट होती है। जब तक उनमें विश्वास है, धार्मिक आदर्श कभी भी अपने कार्य में असफल नहीं होता। धर्म की उपेक्षा करना सजीव संवेदनाओं की उपेक्षा करना है।

फिर, सभी धर्म सत्य तथा उत्तम हैं, ऐसा विचार करना निश्चित रूप से अनुकरण की दृष्टि से गलत है। हमें यह बात बहुत खेद के साथ कहनी पड़ती है कि यह विचार तुलनात्मक धर्म के अध्ययन से उत्पन्न होता है। परंतु तुलनात्मक धर्म ने मानवता की एक बहुत ही महान सेवा की है। सभी लौकिक धर्मो का यह कहना था कि वे ही केवल मात्र उत्तम धर्म है उनका यह अधिकार तथा गर्व इस अध्ययन से भंग हो गया। यद्यपि यह सच है कि तुलनात्मक धर्म के अध्ययन ने केवल मात्र अवैचारिक और मठाधीशों के एकाधिकार के आधार सत्य धर्म तथा असत्य धर्म में जो अनियमित तथा संदिग्ध भेद बना हुआ था, उसे निरस्त कर दिया; और दूसरी ओर इसके कारण धर्म के संबंध में झूठी धारणाएं भी बनीं। इसमें सबसे हानिकारक धारणा वह है, जिसका मैंने इसके पूर्व उल्लेख किया है। वह धारणा यह है कि सभी धर्म समान रूप से उत्तम हैं और उनमें कोई भेद करने की

आवश्यकता नहीं। इससे बड़ी गलती कोई दूसरी नहीं हो सकती। धर्म एक व्यवस्था तथा शक्ति है और सभी सामाजिक प्रभावों तथा संस्थाओं के समान वह भी अपने प्रभाव में आबद्ध समाज को लाभ अथवा हानि पहुंचाता है। जैसा कि प्रो. टील[1] ने स्पष्ट किया है, धर्म–

> ''मानव इतिहास का एक अत्यंत शक्तिशाली माध्यम है, जिसने राष्ट्रों का निर्माण तथा विध्वंस किया, साम्राज्यों को एक साथ जोड़ा तो दूसरी ओर विभाजित भी किया है; उसने सबसे नृशंस प्रथाओं तथा अन्यायी कृत्यों को मान्यता दी, सबसे पराक्रमी कार्य, आत्मत्याग और निष्ठा की भावना को प्रेरित किया है; धर्म के कारण एक ओर क्लेश, विद्रोह तथा रक्तरंजित युद्ध हुआ, तो दूसरी ओर धर्म के कारण राष्ट्रों में स्वत्रंता, सुख और शांति भी आई। वह एक स्थान पर जुल्मों का साथ देता है, तो दूसरे स्थान पर गुलामी की जंजीरे तोड़ देता है। कभी एक नई देदीप्यमान सभ्यता का निर्माण करता है, तो कभी-कभी विज्ञान, कला आदि के विकास का सबसे बड़ा शत्रु बनता है।''

धर्म की शक्ति के परिणामों में इतनी विलक्षण विसंगति के बावजूद वह जो रूप धारण करता है तथा जो आदर्श निश्चित करता है, उसे बिना किसी परीक्षण के उत्तम माना जा सकता है। यह इस पर निर्भर करता है कि किसी धर्म ने दैवी शासन की योजना के रूप में कौन से सामाजिक आदर्श प्रदान किए हैं। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर तुलनात्मक धर्म के विज्ञान ने विचार नहीं किया। वस्तुतः यह एक ऐसा प्रश्न है, जो तुलनात्मक धर्म का जहां अंत होता है, वहीं से आरंभ होता है। यद्यपि धर्म अनेक हैं, परंतु वे सभी समान रूप से उत्तम हैं, ऐसा कहकर हिन्दु लोग इस प्रश्न का उत्तर टाल रहे हैं। परंतु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है।

हिन्दु समाज हिंदुत्व के दर्शन का परीक्षण करने की बात को कितना भी टालने का प्रयास करे, ऐसे परीक्षण से भाग नहीं सकता। उसे इसका सामना करना ही होगा।

---

1. *ट्री आफ लाइफ*, पृष्ठ 5

III

अब विषय पर आते हैं। हिंदु धर्म के दर्शन के परीक्षण के लिए मैं न्याय की कसौटी तथा उपयुक्तता की कसौटी, इन दोनों कसौटियों को लागू करना चाहूंगा। प्रथम, न्याय की कसौटी को लागू करूंगा। ऐसा करने से पहले मैं, न्याय के तत्व से मेरा क्या अर्थ है, यह बात स्पष्ट करना चाहूंगा। इसकी व्याख्या प्रो. बर्गबान[1] से अच्छी किसी ने नहीं की है। जैसा कि उन्होंने बताया है, न्याय का सिद्धांत एक सारभूत सिद्धांत है और उसमें लगभग उन सभी सिद्धांतों का समावेश है, जो नैतिक व्यवस्था का आधार बने हैं। न्याय ने सदा ही समानता तथा (कार्य के अनुरूप) 'क्षतिपूर्ति' के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है। निष्पक्षता से समानता उभरी है। नियम और नियमन, न्यायपूर्ण और नीतिपरायणता, ये मूल्य के रूप में समानता से जुड़े हुए हैं यदि सभी मनुष्य समान हैं, तब वे सभी एक समान तत्व के हैं और यह समान तत्व उन्हें समान मौलिक अधिकार तथा समान स्वतंत्रता के योग्य बनाता है।

संक्षेप में न्याय का दूसरा सरल नाम है स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व और हिंदु धर्म को परखने के लिए मैं न्याय का इसी अर्थ में एक कसौटी के रूप में प्रयोग करूंगा[2]।

इनमें से कौन से सिद्धांत को हिंदू धर्म मान्य करता है? हम एक-एक प्रश्न का विचार करें।

क्या हिंदू धर्म समानता को स्वीकार करता है?

इस प्रश्न से किसी के भी मन में तुरंत जाति-व्यवस्था का विचार आता है। जाति-व्यवस्था की एक विचित्र विशेषता यह है कि विभिन्न जातियां एक समान स्तर पर नहीं खड़ी हैं। यह वह व्यवस्था है, जिसमें विभिन्न जातियों का स्थान एक-दूसरे के ऊपर ऊर्ध्वाकार क्रम में निश्चित किया गया है। कदाचित मनु जाति के निर्माण के लिए जिम्मेदार न हों, परंतु मनु ने वर्ण की पवित्रता का उपदेश दिया है। जैसा कि मैंने इससे पूर्व स्पष्ट किया है, वर्ण-व्यवस्था जाति की जननी है और इस अर्थ में मनु जाति-व्यवस्था का जनक न भी हो परंतु उसके पूर्वज होने का उस पर निश्चित ही आरोप लगाया जा सकता है। जाति-व्यवस्था के संबंध में मनु का दोष क्या है, इसके बारे में चाहे जो स्थिति हो, परंतु इस बारे में कोई प्रश्न

---

1. टू मोरेलिटीज पेज।
2. न्याय की एक अन्य व्याख्या के लिए जे.एस. मिल की *यूटिलिटेरियनिज्म* का संदर्भ देखें।

ही नहीं उठता कि श्रेणीकरण और कोटि–निर्धारण का सिद्धांत प्रदान करने के लिए मनु ही जिम्मेदार है।

मनु की इस योजना में ब्राह्मण का स्थान प्रथम श्रेणी पर है। उसके नीचे है क्षत्रिय, क्षत्रिय के नीचे है वैश्य, वैश्य के नीचे हैं शूद्र और शूद्र के नीचे है अतिशूद्र। क्रमिक श्रेणी की यह व्यवस्था असमानता के सिद्धांत को लागू करने का एक दूसरा सीधा तरीका है, ताकि सही रूप में यह कहा जा सके कि हिंदू धर्म समानता के सिद्धांत को मान्यता नहीं देता। सामाजिक प्रतिष्ठा की यह असमानता राज दरबार के समारोह में चलने वाले दरबार के अधिकारियों की श्रेणी में दिखाई देने वाली असमानता के समान नहीं है। समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा हर समय, हर स्थान पर तथा सभी कार्यों में पालन की जाने वाली सामाजिक संबंधों की यह स्थायी व्यवस्था है, जिसका सभी अमल करते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए काफी समय लग सकता है कि मनु ने कैसे जीवन का प्रत्येक अवस्था में असमानता के तत्व को लागू किया और उसे जीवन की एक सजीव शक्ति बनाया। परंतु फिर भी मैं गुलामी, विवाद तथा विधि के नियमों जैसे कुछ उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट करना चाहूंगा।

मनु ने गुलामी को मान्यता प्रदान की है[1]। परंतु उसने उसे शूद्र तक ही सीमित रखा। केवल शूद्रों को ही शेष तीन ऊंचे वर्णों का गुलाम बनाया जा सकता था। परंतु यह ऊंचे वर्ण शूद्रों के गुलाम नहीं हो सकते थे।

परंतु ऐसा प्रमाणित होता है किस व्यवहार में यह व्यवस्था मनु के नियम से भिन्न थी और केवल शूद्र ही गुलाम नहीं होते थे, किन्तु अन्य तीन वर्णों के लोग भी गुलाम होते थे। यह स्थिति तब स्पष्ट हो गई, जब नारद नाम के मनु के उत्तराधिकारी ने एक नया नियम बनाया[2]। नारद का यह नया नियम निम्न प्रकार है–

> 5.39. जब कोई मनुष्य अपनी जाति विशेष के कर्तव्यों का उल्लंघन करता है, उसे छोड़कर चार वर्णों पर नीचे से ऊपर उल्टे क्रम में गुलामी लागू नहीं की जा सकती। इस संबंध में यह गुलामी किसी स्त्री की स्थिति के समान है।

गुलामी को मान्यता प्रदान करना बहुत बुरी बात थी। परंतु यदि गुलामी को अपना रास्ता स्वयं निर्धारित करने की आजादी दी जाए, तो उससे कम–से–कम एक

---

1. मनु ने सात प्रकार के गुलाम बताए हैं (8.415)। नारद ने 15 प्रकार के गुलाम बताए हैं (5.25)।
2. याज्ञवल्क्य ने भी वैसे नियम बताए हैं (2.183) जो मनु के समान प्रमाणित हैं।

लाभकारी प्रभाव होता है। कदाचित वह सभी को एक समान स्तर पर लाने की शक्ति बन जाति-व्यवस्था की नींव को नष्ट कर देती, क्योंकि शायद उसके अंतर्गत ब्राह्मण किसी अछूत का गुलाम और अछूत किसी ब्राह्मण का मालिक बन सकता था। परंतु जब यह स्पष्ट हो गया कि अनुबंधित गुलामी उसी जैसा सिद्धांत है, तब उसे ही विफल करने के प्रयास किए गए। इसलिए मनु और उसके उत्तराधिकारियों ने गुलामी को मान्यता प्रदान करते हुए इस बात का भी आदेश दिया कि उसे वर्ण-व्यवस्था के उल्ट क्रम से लागू नहीं किया जाए। इसका मतलब है, एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण का गुलाम बन सकता है, परंतु वह किसी दूसरे वर्ण का, जैसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अतिशूद्र का गुलाम नहीं हो सकता। परंतु दूसरी ओर एक ब्राह्मण इन चार वर्णों के किसी भी व्यक्ति को गुलाम बना सकता है, परंतु उस व्यक्ति को नहीं जो ब्राह्मण है एक वैश्य किसी वैश्य, शूद्र तथा अतिशूद्र को गुलाम बना सकता है, परंतु उसे नहीं जो ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय नहीं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य है। एक अतिशूद्र किसी अतिशूद्र को ही गुलाम बना सकता है, परंतु उसे नहीं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र है।

अब विवाह पर मनु की धारणा का विचार करें। नीचे मनु के विभिन्न वर्णों के अंतर्जातीय विवाह के नियम दिए गए हैं। मनु कहता है:

> 3.12 द्विजों की पहली शादी के लिए उसकी जाति की स्त्री की ही संस्तुति की जाती है परंतु ऐसे लोगों के लिए, जिन्हें किसी कारण से पुनर्विवाह करना हो, उनके वर्णों के सीधे नीचे वर्ण की स्त्रियों को वरीयता दी जाती है।
>
> 3.13 एक शूद्र स्त्री केवल शूद्र की पत्नी बन सकती है; शूद्र और वैश्व स्त्री एक वैश्व की पत्नी बन सकती है; वे दोनों तथा क्षत्रिय स्त्री एक क्षत्रिय की पत्नी बन सकती है; और वे तीनों तथा ब्राह्मणी, ब्राह्मण की पत्नियां बन सकती हैं।

मनु अंतर्जातीय विवाह का विरोधी है। उसका कहना है कि प्रत्येक वर्ण अपने वर्ण में ही विवाह करे। परंतु उसकी निश्चित वर्ण के बाहर के विवाह को मान्यता थी; फिर यहां भी वह इस बात के लिए विशेष रूप से सचेत था कि अंतर्जातीय विवाह से उसके वर्णों की असमानता के सिद्धांत को हानि न पहुंच सके। गुलामी के समान वह अंतर्जातीय विवाह को अनुमति देता है, परंतु उल्ट क्रम से नहीं। एक ब्राह्मण जब अपने वर्ण के बाहर विवाह करना चाहे, तब उसके नीचे के किसी वर्ण के साथ विवाह कर सकता है एक क्षत्रिय उसके नीचे के दो वर्णों, वैश्य और शूद्र स्त्री के साथ विवाह कर सकता है, परंतु किसी ब्राह्मण स्त्री के साथ विवाह नहीं

कर सकता जो उससे ऊंचा वर्ण है। एक वैश्य किसी शूद्र वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर सकता है जो सीधे उससे नीचे हैं, परंतु वह ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ण की स्त्री के साथ विवाह नहीं कर सकता।

यह भेदभाव क्यों? इसका केवल एक ही उत्तर है कि मनु असमानता के नियम को बनाए रखने के लिए अत्यधिक उत्सुक था।

हम विधि के नियम को ही लें। विधि के नियम का सर्वसाधारण अर्थ यही समझा जाता है कि कानून के सामने सभी समान हैं। इस विषय पर मनु का क्या कहना है, यह बात जो कोई जानना चाहता हो, वह उसकी आचार-संहिता के निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया है।

गवाही देने के लिए-मनु के अनुसार उसे निम्न प्रकार से शपथ दी जाए :

> 8.87 - शुद्ध हृदय न्यायकर्ता शुद्ध तथा सत्य वक्ता द्विज को कई बार पुकारेगा कि वह किसी देवता की प्रतिमा या ब्राह्मण की प्रतीक प्रतिमा के समक्ष पूर्व या उत्तर की ओर मुखकर खड़े होकर पूर्वाह्न में अपनी गवाही दे।
>
> 8.88 - न्यायाधीश ब्राह्मण से 'कहो' क्षत्रिय से 'सत्य कहो' वैश्य से 'गो बीज' और स्वर्ण की चोरी के पाप की 'झूठी गवाही' से तुलना करते हुए तथा शूद्र से उन सभी पापों जो मनुष्य कर सकता है, के दोषों की झूठी गवाही से तुनला करते हुए गवाही देने को कहेगा।
>
> 8.113 - न्यायाधीश पुरोहित को उसके सत्य वचन की, क्षत्रिय को उसके घोड़ा, हाथी अथवा शस्त्र की, वैश्य को उसकी गाय, अनाज, आभूषणों की, शूद्र को उसके सिर पर हाथ रखकर, यदि वह झूठ बोला तो उसे सब पाप लगें कहकर शपथ दे।

मनु झूठी गवाही देने वाले मामलों पर भी विचार करता है। उसके अनुसार झूठी गवाही देना अपराध है। वह कहता है :

> 8.122. न्याय की विफलता को रोकने के लिए तथा दुराचार को रोकने के लिए बुद्धिमान मनुष्यों ने झूठी गवाही देने वालों के लिए कुछ दंड बतलाए हैं, जिनकी आज्ञा ऋषि विधायकों ने दी है।
>
> 8.123. निम्न वर्णों को न्यायी राजा झूठी गवाही देने के लिए पहले जुर्माना लेकर उन्हें राज्य की सीमा त्याग देने को कहे, परंतु ब्राह्मण को केवल राज्य की सीमा त्यागने को कहे। किन्तु मनु ने एक अपवाद स्थापित किया :

8.112. तथापि किसी स्त्री से प्रेम व्यक्त करते समय, विवाह के प्रस्ताव के समय, किसी गाय द्वारा घास अथवा फल खाते समय, यज्ञ के लिए लकड़ी ले जाते समय अथवा ब्राह्मण की रक्षा का वचन देते समय हल्की शपथ लेना घोर पाप है।

अपराधों के मसले चलाने के लिए—उनकी स्थिति मनु के अध्यादेशों को जानने से स्पष्ट होती है, जिनका संबंध कुछ महत्वपूर्ण अपराधों से है। मानहानि के अपराध के लिए मनु कहता है :

8.267. यदि कोई क्षत्रिय किसी पुरोहित की मानहानि करता है तो उस पर सौ पण का जुर्माना किया जाएगा। यदि कोई वैश्य किसी पुरोहित की मानहानि करता है तो उस पर एक सौ पचास या दो सौ पण का जुर्माना किया जाएगा, लेकिन ऐसे किसी अपराध के लिए किसी शिल्पी या दास व्यक्ति को कोड़े लगाए जाएंगे।

8.268. यदि कोई पुरोहित किसी क्षत्रिय की मानहानि करे तो उस पर पचास पण का जुर्माना किया जाएगा, यदि वह किसी वैश्य की मानहानि करता है तो उस पर पच्चीस पण का जुर्माना किया जाएगा तथा दास वर्ग के किसी व्यक्ति की भर्त्सना करने पर बारह पण का जुर्माना किया जाएगा।

8.270. यदि कोई शूद्र व्यक्ति किसी द्विज की घोर भर्त्सना करता है तो उसकी जीभ काट दी जाए, क्योंकि उसने ब्रह्मा के निम्नतम भाग से जन्म लिया है।

8.2.71. यदि शूद्र उनके नामों तथा वर्णों का अपमानपूर्ण तरीके से उल्लेख करता है, मानो वह कहता है, अरे देवदत्त, तू ब्राह्मण नहीं है, तो दस अंगुल लंबी लोहे की गर्म सलाक उसके मुंह में डाली जाएगी।

8.272. यदि शूद्र घमंडपूर्ण पुरोहितों को उनके कर्तव्यों के लिए निर्देश देता है, तो राजा उसके मुंह तथा कान में गर्म तेल डालने का आदेश देगा।

गाली देने के अपराध के लिए–मनु कहता है :

8.276. यदि कोई पुरोहित तथा क्षत्रिय आपस में गाली–गलौच करते हैं, तो इस संबंध में जुर्माना विद्वान राजा द्वारा किया जाएगा, और वह दंड या जुर्माना पुरोहित पर सबसे कम तथा क्षत्रिय पर उससे अधिक किया जाएगा।

8.277. उपरोक्त अपराध यदि कोई वैश्य-शूद्र करते हैं, तब उन्हें जबान काटने की सजा छोड़कर शेष सभी प्रकार का दंड उनकी जाति के अनुसार दिए जाएं, दंड का यह निर्धारित नियम है।

प्रहार या मार-पीट के अपराध के लिए मनु कहते हैं :

8.279. जिस अंग द्वारा नीच जाति व्यक्ति ऊंची जाति के व्यक्ति पर हमला करेगा या उसे चोट पहुंचाएगा, उसका वह अंग काट लिया जाएगा। यह मनु का अध्यादेश है।

8.280. जिसने दूसरे पर हाथ उठाया हो अथवा डंडा उठाया हो, तो उसका हाथ काट दिया जाए और जो क्रोध में आकर किसी के लात मारता है, उसका पैर काट दिया जाए।

अहंकार के अपराध के लिए-मनु कहता है :

8.2.81. नीच जाति का कोई व्यक्ति यदि उच्च गति के व्यक्ति के साथ उसी स्थान पर अभद्रता के साथ बैठेगा, तो उसके कूल्हे को दाग दिया जाएगा तथा उसे देश-निकाला दे दिया जाएगा या राजा उसके नितंब पर गहरा घाव करवा देगा।

8.282. यदि वह घमंड के साथ उस पर थूकता है, तो राजा उसके दोनों होठों को; यदि वह उस पर पेशाब करता है तो उसके लिंग को; यदि वह अपान वायु, छोड़े तो उसकी गुदा को कटवा देगा।

8.283. यदि वह ब्राह्मण को बालों से पकड़ता है या इसी तरह यदि वह उसका पैर या गला या अंडकोश पकड़कर खींचता है तो राजा बिना किसी हिचक या संकोच के उसके हाथों को कटवा दे।

व्यभिचार के अपराध के लिए-मनु कहता है :

8.3.59. यदि कोई शूद्र किसी पुरोहित की पत्नी के साथ वास्तव में व्यभिचार करता है, तो उसे मृत्यु-दंड मिलना चाहिए; पत्नियों के मामले में सभी चारों वर्णों की स्त्रियों की विशेष रूप से रखा की जानी चाहिए।

8.3.66. यदि कोई शूद्र किसी उच्च जाति की युवती से प्यार करता है, तो उसे मृत्यु-दंड मिलना चाहिए; परंतु यदि वह कोई समान वर्ग की कन्या से प्यार करता है, तो उसे उस कन्या से शादी करनी होगी, बशर्ते उस कन्या का पिता इसके लिए इच्छुक हो।

8.374. यदि कोई शूद्र किसी द्विज स्त्री के साथ संभोग करता है, चाहे वह

स्त्री घर पर रक्षित है अथवा अरक्षित, उसे उसी प्रकार दंड दिया जाएगा–यदि स्त्री अरक्षित है तो अपराधी के लिंग को कटवाकर तथा उसकी संपत्ति को जब्त पर दंडित किया जाए। यदि वह रक्षित है तो अपराधी की संपत्ति को जब्त कर उसे प्राणदंड दिया जाए।

8.375. रक्षित ब्राह्मणी के साथ व्यभिचार करने पर वैश्य एक वर्ष की सजा के बाद अपनी समस्त धन–संपत्ति खो देगा, क्षत्रिय पर एक हजार पण जुर्माना किया जाएगा और गधे के मूत्र से उसका मुंडन किया जाएगा।

8.376. लेकिन यदि कोई वैश्य या क्षत्रिय किसी अरक्षित ब्राह्मणीक के साथ व्यभिचार करता है तो राजा वैश्य पर पांच सौ पण तथा क्षत्रिय पर एक हजार पण का केवल जुर्माना करेगा।

8.377. लेकिन यदि ये दोनों किसी ने केवल रक्षित पुरोहितानी वरन् किसी गुणवती के साथ व्यभिचार करते हैं, तो वे शूद्रों के समान दंडनीय हैं अथवा तृणाग्नि में जलाने योग्य हैं।

8.382. यदि कोई वैश्य किसी रक्षित क्षत्रिय स्त्री के साथ या कोई क्षत्रिय किसी रक्षित वैश्य स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो उन दोनों को वही दंड दिया जाएगा जो अरक्षित पुरोहितानी के मामले में दिया जाता है।

8.383. लेकिन यदि कोई ब्राह्मण इन दोनों वर्णों की किसी रक्षित स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, तो उस पर एक हजार पण का जुर्माना किया जाना चाहिए, और रक्षित शूद्र के साथ व्यभिचार करने पर क्षत्रिय या वैश्य पर भी एक हजार पण का जुर्माना किया जाना चाहिए।

8.384. यदि कोई वैश्य किसी रक्षित क्षत्रिय स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो जुर्माना पांच सौ पण होगा, लेकिन यदि कोई क्षत्रिय किसी वैश्य स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, तो उसका सिर मूत्र में मुड़वा देना चाहिए या उल्लिखित जुर्माना लेना चाहिए।

8.385. यदि पुरोहित किसी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र अरक्षित स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, तो उसे पांच सौ पण का दंड दिया जाना चाहिए और किसी नीचे वर्ण संकर जाति की स्त्री के साथ संबंधों के लिए उसे एक हजार पण का दंड देना होगा।

अपराधों के लिए सजा देने की पद्धति पर विचार करने पर मनु की योजना इस विषय पर बहुत ही मनोरंजक प्रकाश डालती है। निम्नलिखित अध्यादेशों पर विचार करें :

8.379. पुरोहित वर्ग के व्यभिचारी को प्राण-दंड देने की बजाए उसका अपकीर्तिकर मुंडन करा देना चाहिए तथा इसी अपराध के लिए अन्य वर्गों को मृत्य-दंड तक दिया जाए।

8.380. राजा समस्त पाप करने वाले ब्राह्मण का भी वध कभी न करे, किन्तु संपूर्ण धन के साथ अक्षत उसे राज्य से निर्वासित कर दे।

11.126. क्षत्रिय वर्ग के किसी सदाचारी मनुष्य की जानबूझ कर हत्या करने पर किसी ब्राह्मण की हत्या के लिए जो दंड दिया जाता है, उसका एक चौथाई दंड होगा। वैश्य की हत्या के लिए उसका आठवां भाग और शूद्र की हत्या के लिए, जो निरंतर अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसका सोलहवां भाग।

11.127. बिना द्वेष-भाग के यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय की हत्या कर देता है, तो उसे उसके सभी धार्मिक संस्कारों को करने के बाद पुरोहित को एक बैल और एक हजार गाय देनी चाहिए।

11.128. अथवा संयमी तथा जटाधारी होकर ग्राम से अधिक दूर पेड़ के नीचे निवास करता हुआ तीन वर्ष तक बह्म-हत्या के प्रायश्चित को करे।

11.129. सदाचारी वैश्य का बिना कारण वध करने वाला ब्राह्मण इसी प्रायश्चित को एक साल तक करे अथवा एक बैल के साथ सौ गायों को पुरोहित को दे।

11.130. बिना इरादे के शूद्र का वध करने वाला ब्राह्मण छह मास तक इसी वृत्त को करे अथवा एक बैल और दस सफेद गाएं पुरोहित को दे।

11.381. ब्राह्मण-वध के समान पृथ्वी पर दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है, अतएव राजा मन से भी कभी ब्राह्मण का वध करने का विचार न करे।

8.126. एक ही प्रकार के बार-बार होने वाले अपराधों पर विचार करते हुए और उसका स्थान तथा समय निश्चित करते हुए अपराधी को दंड देने की अथवा सजा भुगतने की पात्रता को देखते हुए राजा को केवल उन लोगों को ही सजा देनी चाहिए, जो उसके लिए पात्र हैं।

8.124. ब्रह्मा के पुत्र मनु ने तीन कनिष्ठ वर्गों के विषय में दंड के दस स्थानों को कहा है और ब्राह्मण को पीड़ारहित अर्थात् बिना किसी प्रकार दंडित किए केवल राज्य से निकाल दिया जाता है।

8.125. जनन्द्रिय का एक भाग पेट, जबान, दो हाथ, और पांचवां दो पांव, आंखें, नाक, दोनों कान, संपत्ति और मृत्यु-दंड के लिए संपूर्ण शरीर सजा के स्थान हैं।

हिंदु तथा गैर–हिंदू आपराधिक न्याय–शास्त्र में कितना विलक्षण अंतर है? अपराध के लिए दंड देते हुए हिंदू धर्म–शास्त्रों में कितनी विशाल असमानता लिखी गई है? न्यायदान की भावना–भरे कानून में हमें दो बातें मिलती हैं। एक भाग, जिसमें अपराध की व्याख्या तथा उसे भंग करने वाले को न्यायोचित दंड देने की व्यवस्था है और दूसरा, वह नियम कि एक ही प्रकार का अपराध करने वाले को एक समान दंड होगा। परंतु हम मनु में क्या देखते हैं? पहला, अविवेकी दंड देने की पद्धति। मनुष्य के शरीर के अवयवों जैसे पेट, जबान, नाक, आंखें कान, जननेन्द्रिय आदि को एक स्वतंत्र व्यक्तित्व मानकर तथा यह कहकर कि वे आज्ञा पालन नहीं करते, अपराध के लिए इन अवयवों को काटने की सजा दी जाती है, मानों वे अपराध में शामिल हों, मनु के अपराध–कानून की दूसरी विशेषता है सजा देने का अमानवीय स्वरूप, जिसका अपराध की गंभीरता से कोई संबंध नहीं है। परंतु इन सबसे अधिक मनु के कानून की विलक्षण विशेषता, जो पूर्ण रूप से नग्न होकर उभरती है, वह है एक अपराध के लिए सजा देने में असमानता। यह असमानता केवल अपराधी को सजा देने के लिए ही तैयार नहीं की गई है, परंतु जो लोग न्याय प्राप्त करने के लिए न्याय–मंदिरों में जाते हैं, उनके अस्तित्व तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए भी उसका निर्माण किया गया है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक असमानता, जिस पर इसकी संपूर्ण योजना स्थित है, उसे बनाए रखने के लिए कानूनों का निर्माण किया गया है।

अब तक मैंने केवल ऐसे उदाहरण ही लिए हैं, जो यह दर्शाते हैं कि मनु ने किस प्रकार से सामाजिक असमानता बनाने और उसे जारी रखने में मदद की। परंतु अब मैं मनु द्वारा प्रयुक्त किए गए ऐसे मसले उठाना चाहूंगा, जो यह स्पष्ट करते हैं कि मनु ने धार्मिक असमानता का निर्माण भी किया। यह ऐसे मसले हैं, जिनका संबंध उन बातों से है, जिसे आश्रम तथा धर्म–विधि (संस्कार) कहा जाता है।

हिंदुओं का ईसाइयों की तरह धर्म–संस्कारों पर विश्वास है। उनमें केवल एक ही अंतर है कि हिन्दुओं में इतने अधिक धर्म–संस्कार हैं जिसे उनकी संख्या देकर रोमन कैथेलिक ईसाई भी आश्चर्यचकित हो जाएंगे। आरंभ में इन धार्मिक विधियों की संख्या केवल 40 थी और उनका मनुष्य के जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंगों से लेकर, छोटी–छोटी बातों से संबंध था। पहले उनकी संख्या बीस तक कम की गई। बाद में घटाकर सोलह कर दी गई और उस संख्या पर हिंदुओं के धर्म–संस्कार स्थिर हो गए हैं।

इन धार्मिक संस्कारों के मूल में असमानता की भावना किसी हद तक अभिव्यक्त हुई है, इस बात को स्पष्ट करने के पूर्व पाठकों को इस बात का ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि यह नियम क्या हैं। सभी नियमों का परीक्षण करना असंभव है। उनमें से कुछ नियमों को जानना ही पर्याप्त होगा। मैं केवल तीन प्रकार के नियमों का ही

उल्लेख करूंगा, जिनका संबंध दीक्षा, गायत्री तथा दैनिक हवन से है।

पहले दीक्षा-संस्कार को देखते हैं। किसी व्यक्ति का पवित्र धागे से अभिषेक (जनेऊ पहनना) कर दीक्षा-संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इस अभिषेक-संस्कार के मनु के कुछ महत्वपूर्ण नियम हैं-

> 2.36. जन्म के बाद ब्राह्मण पिता को आठवें वर्ष में, क्षत्रिय पिता को ग्यारहवें वर्ष में, और वैश्य पिता को बारहवें वर्ष में अपने पुत्र को उसके वर्ग-प्रतीक का अभिषेक करना चाहिए।
>
> 2.37. ब्राह्मण अपने बालक के ज्ञान-वर्धन के लिए पांचवे वर्ष में क्षत्रिय अपने बालक का पराक्रम बढ़ाने के लिए छठे वर्ष में और वैश्य अपने बालक के धन-धान्य की समृद्धि के लिए आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार कराए।
>
> 2.38. ब्राह्मण को सोलह वर्ष, क्षत्रिय की बाईस और वैश्य की चौबीस वर्ष की अवस्था होने से पहले गायत्री मंत्र द्वारा उपनयन कराना चाहिए।
>
> 2.39. इसके बाद, इन तीनों वर्णो के सभी युवक, जिनका उचित समय पर अभिषेक न हुआ हो, जाति से बहिष्कृत बन जाते हैं, उनका गायत्री से पतन होता है और गुणवान लोग उनकी निंदा करते हैं और वे ब्रात्य कहलाते हैं।
>
> 2.147. मनुष्य को विचार करना चाहिए कि उसके माता-पिता ने अपनी परस्पर संतुष्टि के लिए उसे जो जन्म दिया है और जो वह अपनी मां के गर्भ से प्राप्त करता है, वह केवल मानव-जन्म है।
>
> 2.148. परंतु संपूर्ण वेदों का ज्ञानी आचार्य जिस बालक को विधिपूर्वक उसकी दैवी माता सावित्री से उत्पन्न करता है वह बालक सत्य, अजर और अमर है।
>
> 2.169. पहला जन्म नैसर्गिक माता से, दूसरा जन्म अपनी परिधि के बंधन से और तीसरा जन्म यज्ञ-संस्कारों के उचित पालन से होता है। वेदों के अनुसार, जिसे सामान्य रूप से द्विज कहा गया है, उनके ऐसे जन्म होते हैं।
>
> 2.170. इनमें से उसका दैवी जन्म वह है जो परिधि के बंधन से तथा यज्ञ के धागे (जनेऊ) से होता है और इस जन्म में उसकी माता गायत्री होती है और पिता आचार्य होता है।

अब हम गायत्री को देखते हैं। वह एक मंत्र अथवा एक विशेष आध्यात्मिक शक्ति की प्रार्थना है। मनु ने इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है।

> 2.76. ब्रह्मा ने एक पटक आदि तीनों वेदों से, 'अ' 'उ' तथा 'म' यह तीन अक्षर पिरोकर निकाले, जिनके मिश्रण से तीन अर्थ एक ही पद्यांश के तीन गूढ़ शब्द भूः, भुवः, स्वः बन गए, जिसका अर्थ है, पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग।

2.77. प्राणियों के स्वामी ने तीनों वेदों से, अचिन्त्य रूप में, एक के बाद एक तीन अवर्णनीय शब्द उन्नत किए, जो तत् शब्द से शुरू होते थे और उन्हें सावित्री अथवा गायत्री शीर्षक दिया गया।

2.78. जो पुरोहित, वेद जानता है और उसका सुबह-शाम पाठन करता है तथा उस पवित्र पाठ के पहले उन तीन शब्दों का उच्चारण करता है, उसे वेदों में निहित पुण्य प्राप्त होगा।

2.79. और एक द्विज व्यक्ति, जो इन तीनों (अथवा ओम, व्याहृति एवं गायत्री) का एक हजार बार उच्चारण करेगा, उसे एक माह के भीतर उसी प्रकार घोर अपराध से मुक्ति मिलेगी, जिस प्रकार सांप केंचुली से मुक्त होता है।

2.80. पुरोहित, क्षत्रिय तथा वैश्य, जो भी इन गूढ़ पाठों की उपेक्षा करेगा, और उचित समय पर अपनी विशेष धार्मिक विधि नहीं करेगा, उसे सदाचारी लोग निन्दनीय मानेंगे।

2.81. महान अपरिवर्तनीय शब्दों के पहले उन तीन अर्थी अक्षरों को और उसके बाद गायत्री को, जिससे त्रिपदा बनती है, वेदों का मुख अथवा मुख्य भाग माना जाना चाहिए।

2.82. जो कोई भी प्रतिदिन, तीन वर्षों तक, बिना उपेक्षा किए उन पवित्र पाठों का पठन करेगा, उसे दैवी सार प्राप्त होगा और वह वायु की तरह मुक्त संचार कर सकेगा तथा उसे आकाश का रूप प्राप्त होगा।

2.83. तीन अक्षरों का वह पद उस सर्वश्रेष्ठ का प्रतीक है। श्वास रोककर ईश्वर पर मन केंद्रित करना, यह सर्वोच्च भक्ति है। परंतु गायत्री से बढ़कर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं। सत्य को घोषित करना मौन को धारण करने से श्रेष्ठ है।

2.84. वेदों में निहित सभी संस्कार अग्नि को आहुति और पवित्र त्याग में समाप्त होते हैं। परंतु जो अमर्त्य है वह अक्षर ओउम है, क्योंकि वह ईश्वर का प्रतीक है, और जो प्रजापति है।

2.85. उस पवित्र नाम का स्मरण करना या दोहराना किसी यज्ञ करने से दस गुना श्रेष्ठ है और जब यह नाम स्मरण कोई दूसरा व्यक्ति नहीं सुनता हो, तब यही कार्य सौ गुना श्रेष्ठ बन जाता है और जब इस नाम का मन-ही-मन में मानसिक रूप से स्मरण किया जाए तब वह एक हजार गुना श्रेष्ठ होता है।

2.86. विधि यज्ञों के सहित भी जो चार पाक-यज्ञ हैं, वे भी जप-यज्ञ के

सोलहवें भाग के बराबर नहीं है।

अब दैनिक यज्ञ-संस्कार देखें।

> 3.69. अनजाने में किए गए अपराधों का प्रायश्चित करने के लिए विद्वान ऋषियों ने प्रतिदिन घर में करने के लिए पांच महायज्ञ बताए हैं।
>
> 3.70. धर्म-शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन वेदों के अनुसार यज्ञ हैं अन्न और जल अर्पण करना पितृ यज्ञ है। अग्नि को आहुति देना देवों के लिए यज्ञ है। सजीव प्राणी यज्ञ को चावल अथवा अन्य भोजन देना भूत यज्ञ है और अतिथि का आदर-सत्कार करना यज्ञ है।
>
> 3.71. इन पंचमहायज्ञों को यथाशक्ति नहीं छोड़ने बाबा ग्रहस्थाश्रम में रहता हुआ भी द्विज पंचसूना (पांच पापों) के दोष से निष्कलंक रहता है।

अब हम आश्रम-प्रथा को देखें। आश्रम-सिद्धांत हिंदुत्व की एक खास विशेषता है। दूसरे किसी भी अन्य धर्म की शिक्षाओं में इस सिद्धांत ने कोई स्थान पाया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। आश्रम-सिद्धांत के अनुसार, जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। ये चार अवस्थाएं हैं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य अवस्था में मनुष्य अविवाहित होता है और अपना सब समय शिक्षा तथा अध्ययन में व्यतीत करता है। इस अवस्था के समाप्त होने के बाद वह गृहस्थ में प्रवेश करता है अर्थात् वह विवाह करता है, परिवार का पालन-पोषण करता है और भौतिक सुखों की ओर ध्यान देता है। उसके बाद वह तीसरी अवस्था में प्रवेश करता है और वानप्रस्थ कहलाता है। वानप्रस्थी के रूप में वह जंगल में जाकर साधु के रूप में जीवन व्यतीत करता है। परंतु वह अपने परिवार से संबंध विच्छेद नहीं करता अथवा संपत्ति से अपना अधिकार भी नहीं त्यागता। उसके बाद चौथी और अंतिम अवस्था आती है। वह है संन्यास की अवस्था, जिसका मतलब है ईश्वर की खोज में संसार का संपूर्ण त्याग करना। ब्रह्मचारी और गृहस्थ अवस्थाएं एक प्रकार से स्वाभाविक अवस्थाएं हैं। अंतिम दो अवस्थाओं के बारे में केवल सिफारिश की जाती है। उसके बारे में कोई बंधन नहीं है। इस संबंध में मनु ने जो-कुछ कहा है, वह निम्न प्रकार है :

> 6.1. द्विज व्यक्ति, जो नियमानुसार गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर चुका है, दृढ़ संकल्प करते हुए तथा अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण करते हुए जंगल में जाकर (नीचे दिए गए नियमों का पालन करते हुए), रह सकता है।
>
> 6.2. जब एक गृहस्थी देखे कि उसकी त्वचा झुर्रियों से भरने लगी है। उसके बाल सफेद होने लग जाएं और वह अपनु पुत्रों के पुत्र देख ले, तब उसे जंगल में जाकर रहना चाहिए।

> 6.3. काश्तकारी से उत्पन्न अन्न का त्याग करते हुए, अपनी सभी वस्तुओं का त्याग करते हुए, तथा अपनी पत्नी को पुत्रों के उत्तरदायित्व में सौंपकर अथवा उसे साथ लेकर वह जंगल में चला जाए।
>
> 6.33. परंतु इस प्रकार अपने नैसर्गिक जीवन का तीसरा भाग जंगल में गुजार कर अपने जीवन के चौथे हिस्से में सभी सांसारिक संबंधों का त्याग करते हुए वह साधु के रूप में जीवन व्यतीत करे।

इन नियमों में सम्मिलित असमानता यद्यपि पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है, परंतु यह वास्तविक है। हम यह देख सकते हैं कि यह सभी संस्कार और आश्रम-व्यवस्था केवल द्विज-जन्मे लोगों तक ही सीमित है। शूद्रों को इनसे वंचित रखा गया है।[1] यद्यपि मनु को उनके समारोह मनाने में कोई आपत्ति नहीं है, परंतु उसे अपने समारोह में उनके द्वारा पवित्र मंत्रों का प्रयोग करने पर आपत्ति है। इस विषय पर मनु ने कहा है :

> 10.127. वे शूद्र जो अपने संपूर्ण कर्तव्य निभाने को उत्सुक हैं, और जानते हैं कि उन्हें निभाना चाहिए, वे अपने पारिवारिक धार्मिक संस्कारों में उत्तम लोगों का अनुसरण कर सकते हैं, परंतु पवित्र मंत्रों का पाठ किए बिना। केवल उन मंत्रों का उपयोग करें, जिसमें नमस्कार तथा स्तुति का समावेश है, जिसमें उन्हें केवल प्रशंसा मिल सके, परंतु उनके द्वारा कोई पाप न हो।
>
> स्त्रियों के लिए निम्नलिखित मंत्र को देखें :
>
> 2.66. यज्ञोपवीत-संस्कार को छोड़कर स्त्रियों को बाकी समारोह-क्रियाएं अपनी आयु तथा क्रम से वेद-पाठ किए बिना करनी चाहिएं जिससे उनका शरीर परिपूर्ण बन सके।

मनु ने शूद्रों को धार्मिक संस्कार-विधियों के लाभ से वंचित क्यों रखा? शूद्रों को संन्यासी बनने के लिए उसने जो निषेध किया है, यह बात भ्रमित करने वाली है। संन्यास का मतलब है आत्म-त्याग और सभी सांसारिक सुखों का परित्याग। कानून की भाषा में संन्यास का अर्थ एक प्रकार से नागरिक जीवन की मृत्यु के समान होता है। इस तरह जब मनुष्य संन्यासी बन जाता है, उसी क्षण से उसे मृत मानकर उसका वारिस तुरंत उसके स्थान पर विराजमान होता है। अगर कोई शूद्र संन्यासी बन जाए तब उसके साथ भी यही स्थिति हो सकती है। ऐसी स्थिति से उस शूद्र को छोड़कर और किसी को कोई नुकसान नहीं हो सकता। फिर यह रोक क्यों? यह एक महत्वपूर्ण विषय है और

---

1. स्त्रियों को भी वंचित रखा है।

धार्मिक-विधि तथा संन्यास का महत्व तथा अर्थ स्पष्ट करने के लिए मैं मनु को ही यहां उद्धत करना चाहूंगा। मनु के निम्नलिखित श्लोकों पर हम विचार करें :

> 2.26. द्विज-जन्में मनुष्य को वेदों द्वारा निर्देशित गर्भ-धारण समारोह तथा धार्मिक संस्कार करने चाहिए, जिसके कारण उसका शरीर इस जन्म में तथा मृत्य के बाद पवित्र बन जाता है और पाप से मुक्त हो जाता है।
>
> 2.28. वेदों के अध्ययन से, प्रतिज्ञाओं से आहुति चढ़ाकर पवित्र पाठों के उच्चारण से, तीनों वेदों के उपार्जन से, देव-ऋषि तथा पितरों को तर्पण देकर, पुत्रों को जन्म देकर, महान यज्ञ करके तथा धार्मिक संस्कारों द्वारा इस मानव शरीर को ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है।

यह संस्कारों का ध्येय तथा उद्देश्य है। मनु ने संन्यास का भी ध्येय तथा उद्देश्य स्पष्ट किया है :

> 6.81. इस प्रकार से, धीरे-धीरे जो सभी संबंधों का त्याग करता है तथा सभी द्वन्द्वों से मुक्त होता है, वही केवल ब्रह्म में लीन होता है।
>
> 6.85. एक द्विज-जन्मा व्यक्ति, जो लगातार उपरोक्त कर्तव्यों का पालन करते हुए संन्यास लेता है, वह इस धरती पर सभी पापों से मुक्त हो जाता है और श्रेष्ठ ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।

इन श्लोकों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वयं मनु के अनुसार धार्मिक संस्कारों का उद्देश्य शरीर पवित्र बनाना, तथा पाप से इस जीवन में तथा उसके बाद के जीवन में मुक्ति पाना, और अपने-आपको ईश्वर के साथ मिलन के योग्य बनाना है। मनु के अनुसार, संन्यास का उद्देश्य है ईश्वर तक पहुंचना और उसमें विलीन हो जाना है और फिर भी मनु कहता है कि धार्मिक विधि तथा संन्यास केवल उच्च वर्गों का ही अधिकार है। वह शूद्रों के लिए उन्मुक्त नहीं। क्या? शूद्र के लिए अपना शरीर पवित्र बनाना तथा अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना आवश्यक नहीं है? क्या शूद्र ईश्वर तक पहुंचने की अभिलाषा नहीं रख सकता? कदाचित मनु ने इसका उत्तर 'हां' में दिया होगा। तब उसने ऐसे नियम क्यों बनाए? इसका उत्तर यह है कि मनु सामाजिक असमानता में कट्टर विश्वास रखता था और वह धार्मिक समानता को स्वीकार करने के खतरे को जानता था। यदि मैं ईश्वर के सामने समान हूं तब इस धरती पर समान क्यों नहीं बन सकता? मनु शायद इस प्रश्न से भयभीत था। इसकी स्वीकृति देने और सामाजिक असमानता को समाप्त करने के लिए धार्मिक समानता की अनुमति देने के बजाय उसने धार्मिक समानता को नकारना ही अधिक पसंद किया।

इस तरह से आपको हिंदुत्व के दर्शन में सामाजिक तथा धार्मिक असमानता, दोनों का समावेश मिलेगा।

मनुष्य को अपने पापों से मुक्त होने के प्रयास को रोकना! मनुष्य को ईश्वर के समीप आने पर रोक! किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसे नियम घृणित लगने चाहिएं और विकृत मस्तिष्क की निशानी लगने चाहिएं। हिंदु धर्म केवल समानता को ही नकारता है, ऐसा नहीं है, परंतु वह मानव व्यक्तित्व की पवित्रता को ही नकारता है। यह इसका एक चकित कर देने वाला उदाहरण है।

बात यहीं समाप्त नहीं होती क्योंकि मनु केवल मानव-व्यक्तित्व को अमान्य करने पर ही नहीं रुका। उसने जान-बूझकर मानव-व्यक्तित्व का अधःपतन किया। हिंदुत्व के दर्शन के इस पहलू को स्पष्ट करने के लिए मैं केवल दो उदाहरण देता हूं।

जो लोग जाति-व्यवस्था का अध्ययन करते हैं, वे उसकी उत्पत्ति के बारे में पूछताछ करें, यह स्वाभाविक है। जाति-व्यवस्था का जनक होने के कारण विभिन्न जातियों की उत्पत्ति के लिए मनु को स्पष्टीकरण देना होगा। मनु ने उसकी उत्पत्ति क्या बताई है? उसका स्पष्टीकरण सरल है। वह कहता है कि किस मूल चार वर्गों को छोड़कर सभी शेष जातियां उनसे ही जन्मी हैं। वह कहता है कि ये जातियां मूल चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों के बीच होने वाले अविवाहित संबंधों तथा व्यभिचार की उपज है। इन चार वर्णों के स्त्री-पुरुष में अनैतिकता तथा स्वेच्छाचार इतना असीमित हो गया कि उसके कारण इन असंख्य आत्माओं से भी अनगिनत जातियों का उदय हुआ। मनु ने इन चार मूल वर्णों के स्त्री-पुरुषों के चरित्र पर बिना सोचे-विचारे वे असभ्य आरोप लगाए क्योंकि अगर चांडाल-अछूतों का पुराना नाम-ब्राह्मण स्त्री और वैश्य पुरुष के व्यभिचार का परिणाम हैं, तो यह बात स्पष्ट है कि चांडालों की इतनी बड़ी संख्या देखकर यह माना जाएगा कि प्रत्येक ब्राह्मण स्त्री वैश्य तथा दुराचारिणी थी और प्रत्येक वैश्य पुरुष सब-कुछ छोड़कर व्यभिचारी जीवन व्यतीत करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि किस विभिन्न जातियों को हीन बनाने की अपनी मूर्ख लालसा की पूर्ति के लिए इन जातियों को नीच उत्पत्ति का कारण बताकर मनु जान-बूझकर ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत बना रहा है। इस संबंध में मैं केवल दो उदाहरण देता हूं। हम मनु की 'मगध' और 'वैदेहिक' जातियों की उत्पत्ति लेते हैं और महान व्याकरणाचार्य पाणिनि की उन्हीं जातियों को दी गई उत्पत्ति से उसकी तुलना करते हैं। मनु का कहना है कि 'मगध' जाति वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री के संभोग से उत्पन्न हुई है। मनु कहता है किस 'वैदेहिक' जाति वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संभोग से उत्पन्न हुई। अब पाणिनि को देखें। पाणिनि कहते हैं कि 'मगध' का अर्थ

है, वह व्यक्ति जो मगध नाम के देश का निवासी हो। 'वैदेहिक' के संबंध में पाणिनि कहते हैं, इसका मतलब है वह व्यक्ति को 'विदेह' नाम के देश का निवासी हो। दोनों में कितना विरोधाभास है। पाणिनि ईसा से 300 वर्ष पहले हुआ। मनु ईसा के 200 वर्ष पश्चात् हुआ। तब लोगों पर पाणिनी के समय में कोई कलंक नहीं लगा था। वे लोग मनु के हाथों कलंकित हो गए। इसका उत्तर यही है कि मनु उन लोगों को अध:पतित करने पर तुलना हुआ थ। मनु लोगों को जान-बूझकर बदनाम करने पर क्यों तुला हुआ था? यह ऐसा कार्य है, जिसकी खोज-बीन[1] अभी की जानी है। परंतु इस बीच हमारे सामने एक ऐसा विलक्षण विरोधाभास आता है कि जब धर्म मनुष्य-मात्र को ऊंचा उठाने में और उन्नत करने में लगा हुआ था, हिंदु धर्म उन्हें अध:पतित और अप्रतिष्ठित करने में व्यस्त था।

हिंदुत्व में हीनता की भावना किस प्रकार व्याप्त है, उसे एक अन्य उदाहरण देते हुए मैं हिंदु बालकों के नामकरण के नियमों के द्वारा स्पष्ट करूंगा।

हिंदुओं के नाम चार प्रकार के होते हैं इसका संबंध या तो-

(1) पारिवारिक देवता के साथ होता है,

(2) जिस माह में बच्चा जन्म लेता, उसके साथ,

(3) जिन ग्रह-नक्षत्रों में बच्चा जन्म लेता है उसके साथ, अथवा,

(4) पूर्ण रूप से प्रासंगिक अर्थात् व्यवसाय के साथ होता है।

मनु के अनुसार, हिंदु का प्रासंगिक नाम दो भागों का होना चाहिए और मनु यह भी निर्देश देता है कि पहला भाग तथा दूसरा भाग किन बातों को दर्शाए। ब्राह्मण के नाम का दूसरा भाग ऐसा शब्द हो जो आनंद व्यक्त करे, क्षत्रिय का ऐसा हो जो रक्षा व्यक्त करे, वैश्य के लिए ऐसा शब्द हो जो संपन्नता व्यक्त करे और शूद्र के लिए ऐसा शब्द हो जो सेवा व्यक्त करे। इसके अनुसार ब्राह्मणों के लिए शर्मा (प्रसन्नता) अथवा देव (ईश्वर), क्षत्रिय के लिए राजा (अधिकार) अथवा वर्मा (शस्त्र), वैश्यों के लिए गुप्ता (दान) अथवा दत्ता (दानकर्ता) और शूद्रों के लिए दास (सेवा)। ये शब्द नामों का दूसरा भाग बने हैं। नाम के पहले भाग के संबंध में मनु कहता है किस ब्राह्मण के लिए वह शुभ-सूचक हो और वैश्य के लिए संपत्ति का सूचक हो। परंतु शूद्र के लिए मनु कहता है कि उसके नाम का पहला भाग कोई ऐसा शब्द होना चाहिए, जो घृणा योग्य हो। जो लोग ऐसा दर्शन अविश्वसनीय मानते हैं, वे शायद इन बातों के वास्तविक संदर्भ जानना चाहेंगे। मैं *मनुस्मृति* से निम्नलिखित कुछ

---

1. देखिए मेरा निबंध, '*मनु ऑन कास्ट-ए पजल*'। (यह लेख प्राप्त हुए पत्रों में नहीं मिला है)।

श्लोकों के उदधृत करता हूं।

नामकरण–समारोह के लिए मनु कहता है :

> 2.30. पिता को बच्चे के जन्म के बाद दसवें अथवा बारहवें दिन, अथवा शुभ ग्रह के अवसर पर अथवा शुभ तिथ पर नामधेय (बच्चे का नामकरण संस्कार) करना चाहिए।
>
> 2.31. ब्राह्मण के नाम का पहला भाग शुभ–सूचक होना चाहिए, क्षत्रिय के नाम का शक्ति के साथ संबंध हो और वैश्य का संपत्ति के साथ, परंतु शूद्र के नाम का पहला भाग कोई ऐसा हो जो घृणा व्यक्त करे।
>
> 2.32. ब्राह्मण के नाम का दूसरा भाग ऐसा शब्द हो जो प्रसन्नता व्यक्त करें। क्षत्रिय का नाम रक्षा व्यक्त करे, वैश्य का समृद्धि और शुद्र का सेवा व्यक्त करे।

किसी शूद्र का नाम उच्च भावना का प्रतीक हो, यह बात मनु सहन नहीं कर सकता। शूद्र वास्तविक स्थिति में तथा नाम से भी घृणित होना चाहिए।

हिंदु धर्म किस प्रकार से सामाजिक तथा धार्मिक, दोनों ही समानताओं को नकारता है, और यह किस प्रकार के मानव–व्यक्तित्व के अध:पतन का प्रतीक है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमने बहुत–कुछ कहा है।

क्या हिंदु धर्म स्वतंत्रता को मान्यता देता है?

स्वतंत्रता को वास्तविक बनाने के लिए उसके साथ कुछ सामाजिक शर्तें भी जुड़ी होनी चाहिएं।[1]

प्रथम, सामाजिक समानता का होना आवश्यक है।

> ''विशेष अधिकार से सामाजिक कार्यों का संतुलन उन पर अधिकार रखने वालों के पक्ष में झुका जाता है। नागरिकों के सामाजिक अधिकारों में जितनी अधिाक समानता होगी, अपनी स्वतंत्रता का वे उतना ही अधिक उपभोग कर सकेंगे। ....अगर स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य प्राप्त करना है, तो यह आवश्यक है कि समानता हो।''

दूसरे, आर्थिक सुरक्षा होनी चाहिए।

> ''मनुष्य को अपनी रुचि के व्यवसाय का चयन करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, और यदि उसे रोजगार की सुरक्षा न हो तो वह मानसिक तथा शारीरिक गुलामी का शिकार बन जाता है, जो स्वतंत्रता की मूल भावना के

---

1. *लिबर्टी इन दि मार्डन स्टेट, लास्की*

ही प्रतिकूल है। भविष्य के प्रति निरंतर भय, होने वाली हानि की आशंका, सुख और सौंदर्य की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयास की विफलता, इस सबसे यह बात स्पष्ट होती है कि आर्थिक सुरक्षा के बिना स्वतंत्रता निरर्थक है। व्यक्ति स्वतंत्र होते हुए भी स्वतंत्रता के उद्देश्य को समझने में असमर्थ हो सकता है।''

तीसरे, ज्ञान का सब लोगों के लिए उपलब्ध होना आवश्यक है। इस जटिल संसार में मनुष्य हमेशा संकटों से घिरा रहता है और उसके लिए अपनी स्वतंत्रता खोए बगैर अपना रास्ता तय करना जरूरी है।

''जब तक मन को स्वतंत्रता का उपयोग करने की शिक्षा न दी जाए, जब तक स्वतंत्रता का कोई मूल्य ही नही रहता। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए शिक्षा प्राप्त करने का मनुष्य का अधिकार उसकी स्वतंत्रता के लिए मूलभूत अधिकार बन जाता है। मनुष्य को ज्ञान से वंचित रखकर आप उसे अनिवार्य रूप से उन लोगों का गुलाम बना देंगे, जो उससे अधिक सौभाग्यशाली हैं।. ......ज्ञान से वंचित रखने का मतलब है, उस शक्ति को नकारना है, जिससे स्वतंत्रता का महान उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जाता है। एक अज्ञानी मनुष्य स्वतंत्र हो सकता है।.....(परंतु) वह अपनी स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर सकता, जिससे कि वह अपनी प्रसन्नता के प्रति आश्वस्त हो सके।''

हिंदु धर्म इनमें से कौन-सी कसौटियों की पूर्ति करता है? हिंदु धर्म किसी प्रकार से समानता को नकारता है, यह बात हमने पहले ही स्पष्ट की है। वह विशेष अधिकार और असमानता को स्वीकार करता है। इस प्रकार हिंदु धर्म में स्वतंत्रता की आवश्यक प्रथम कसौटी इसकी अनुपस्थिति प्रकट करना है।

आर्थिक सुरक्षा के संबंध में हिंदु धर्म में तीन बातें दिखाई देती हैं। प्रथम, हिंदू धर्म व्यवसाय की स्वतंत्रता को नकारता है। मनु की योजना में प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके जन्म के पहले ही व्यवसाय निश्चित कर दिया गया है। हिंदू धर्म में इसके चयन का कोई अवसर नहीं है जो व्यवसाय पूर्व निश्चित किए जाते हैं। उनका मनुष्य की योग्यता और पसंद के साथ कोई संबंध नहीं है।

दूसरे, हिंदू धर्म मनुष्य को दूसरों द्वारा चुने गए उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करने के लिए बाध्य करता हैं मनु शूद्र से कहता है कि उसका जन्म ऊंचे वर्णो की सेवा करने के लिए ही हुआ है। मनु उनको उसी को अपना आदर्श बनाने के लिए बाध्य करता है। मनु द्वारा बनाए निम्नलिखित नियमों को हम देखें :

> 10.121. अगर कोई शूद्र ब्राह्मण की सेवा करते हुए अपना पालन–पोषण नहीं कर सकता, तब वह क्षत्रिय की सेवा कर सकता है अथवा किसी धनी वैश्य की भी सेवा करके अपना पालन–पोषण कर सकता है।
>
> 10.122. परंतु शूद्र को ब्राह्मण की सेवा करनी चाहिए.......।

मनु ने शूद्रों के लिए कोई आदर्श बनाने की बात को ही नहीं छोड़ दिया, वह एक कदम और आगे बढ़ता है और कहता है कि उसके लिए नियत किए गए कार्य से वह भाग नहीं सकता और न ही उसे टाल सकता है क्योंकि मनु ने राजा के लिए जो कर्तव्य निश्चित किए हैं, उनमें से एक कार्य यह है कि राजा यह देखे कि शूदों सहित सभी जाति के लोग अपने निश्चित कर्तव्यों का पालन करें।

> 8.4.10. राजा प्रत्येक वैश्य को उसका व्यवसाय करने की अथवा पैसा उधार देने की अथवा खेती करने की अथवा पशु पालन की, और शूद्र जाति के प्रत्येक मनुष्य को द्विज की सेवा करने की आज्ञा दे।
>
> 8.4.18. पूर्ण रूप से जाग्रत तथा सचेत होकर राजा आदेश दे कि वैश्य तथा शूद्र अपने–अपने कर्तव्यों का पालन करें, क्योंकि जब ये लोग अपने कर्तव्यों का पालन करना छोड़ देते हैं, तब सारा संसार भ्रम में पड़ जाता है।

कर्तव्य का पालन न करना अपराधा माना गया था, जिसके लिए कानून के अनुसार राजा दंड देता था।

> 8.335. यदि पिता, शिक्षक, मित्र, माता, पत्नी, पुत्र, घरेलू पुरोहित अपने–अपने कर्तव्य का दृढ़ता व सच्चाई के साथ निष्पादन नहीं करते हैं तो इनमें से किसी को भी राजा द्वारा बिना दंड के नहीं छोड़ा जाना चाहिए।
>
> 8.336. जिस अपराध में साधाण व्यक्ति एक पण से दंडनीय है, उसी अपराध के लिए राजा सहस्त्र पणा से दंडनीय है, ऐसा शास्त्र का निर्णय है। उसे यह दंड राशि पुरोहित को या नदी को भेंट करनी चाहिए।

इन नियमों की आध्यात्मिक तथा आर्थिक, दो प्रकार की विशेषताएं हैं। आध्यात्मिक अर्थ से यह नियम गुलामी के दर्शने की रचना करते हैं। जिन लोगों को गुलामी के केवल बाह्य वैधानिक अर्थ की जानकारी है और इसके अंतर्निहित अर्थ का ज्ञान नहीं है, उन्हें संभवतः यह चीज स्पष्ट न हो। इसके आंतरिक अर्थ के अनुसार, प्लेटो ने जैसा परिभाषित किया है, गुलाम ऐसा व्यक्ति है जो दूसरों से उन उद्देश्यों को स्वीकार करता है, जो उसके आचरण को नियंत्रित करते हैं। इस अर्थ से एक गुलाम की अपनी कोई नियति नहीं है। वह केवल दूसरों की इच्छापूर्ति का एक साधन है। इस बात को समझने पर स्पष्ट हो जाता है कि शूद्र गुलाम है। नियमों के आर्थिक

महत्व के संदर्भ में ये नियम शूद्रों की आर्थिक स्वतंत्रता पर बंधन डालते हैं। मनु कहता है कि शूद्र केवल सेवा करें। इस बात में शिकायत करने योग्य शायद ज्यादा कुछ न हो, परंतु गलती वहां हैं, जहां नियम नियम दूसरों की सेवा करने को कहते हैं। वह अपनी सेवा नहीं कर सकता, जिसका मतलब है, वह आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता, उसे हमेशा के लिए दूसरों पर आर्थिक दृष्टि से निर्भर रहना पड़ेगा। क्योंकि मनु ने कहा है :

> 1.91. ब्रह्मा ने शूद्र को एक सबसे प्रमुख कार्य सौपा है, वह है, बिना किसी उपेक्षा भाव के उक्त तीनों वर्णों की सेवा करना।

तीसरे स्थान पर, शूद्रों के लिए हिंदू धर्म में संपत्ति संचित करने के लिए कोई अवसर नहीं है। शूद्रों को उसकी सेवा करने के लिए तीनों उच्च वर्णों द्वारा वेतन देने के संबंध में मनु के नियम बहुत ही आदर्शात्मक हैं। शूद्रों को वेतन देने के प्रश्न पर मनु कहता है :

> 10.124. शूद्र की क्षमता, उसका कार्य तथा उसके परिवार में उस पर निर्भर लोगों की संख्या को ध्यान में रखते हुए वे लोग उसे अपनी पारिवारिक संपत्ति से उचित वेतन दें।
>
> 10.125. शूद्र को जूठा भोजन, पुराने वस्त्र, अन्न का युआल तथा पुराने बर्तन आदि देने चाहिए।

यह मनु का वेतन संबंधी कानून है। यह न्यूनतम वेतन का कानून नहीं यह अधिकतम वेतन का कानून है। यह एक ऐसा लौहे-कानून भी था, जिसे इतने निम्न स्तर पर निश्चित किया गया था कि शूद्र के संपत्ति एकत्रित करने और आर्थिक सुरक्षा प्राप्त करने का कोई खतरा नहीं था। परंतु मनु किसी प्रकार की अनिश्चितता नहीं छोड़ना चाहता था और इसलिए उसने बहुत विस्तार में शूद्रों के संपत्ति एकत्रित करने पर प्रतिबंधा लगाया। वह दृढ़ता के साथ कहता है :

> 10.129. शूद्र धन-संचय करने की स्थिति में हो, फिर भी ऐसा न करे क्योंकि जो शूद्र धन-संचय करता है, वह ब्राह्मण को दु:ख पहुंचाता है।

इस प्रकार हिन्दू धर्म में व्यवसाय-चयन के लिए अनुमति नहीं है। उसमें आर्थिक स्वतंत्रता नहीं है और कोई आर्थिक सुरक्षा भी नहीं है। आर्थिक दृष्टि से शूद्र की स्थिति बहुत ही कमजोर है।

ज्ञान के प्रसार के लिए दो कसौटियों का पूर्व नियोजित होना आवश्यक है। औपचारिक शिक्षा का होना आवश्यक है। साक्षरता का होना भी आवश्यक है। इन दोनों

के बगैर शिक्षा का प्रसार नहीं हो सकता। औपचारिक शिक्षा के बगैर जटिल समाज के सभी साधनों और उपलब्धियों का आदान-प्रदान करना संभव नहीं। औपचारिक शिक्षा के बगैर किसी भी विषय से संबंधित संग्रहीत विचारों तथा अनुभवों का युवा-पीढ़ी तक पहुंचना संभव नहीं है और यह विचार तथा अनुभव उन्हें तब तक नहीं मिल सकते, जब तक हम उनको दूसरों के साथ अनौपचारिक संबंध बनाकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए छोड़ नहीं देते। औपचारिक शिक्षा के बगैर वह नई दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकता। उसका दृष्टिकोण व्यापक नहीं बन सकता और वह अपने दैनिक कार्यक्रमों का गुलाम बनकर अज्ञानी रह जाएगा। परंतु औपचारिक शिक्षा के लिए विशेष माध्यमों, जैसे पाठशालाएं, पुस्तकें, नियोजित साधन-सामग्री और अध्ययन आदि की आवश्यकता होती है। जब तक मनुष्य साक्षर न हो, उसे पढ़ना-लिखना माध्यमों का लाभ कैसे ले सकता है? पढ़ने-लिखने की कला अर्थात् साक्षरता का प्रसार और औपचारिक शिक्षा, यह दोनों बातें साथ-साथ चलने वाली हैं। इन दोनों के अस्तित्व के बगैर ज्ञान का प्रसार नहीं हो सकता है।

इस संदर्भ में हिंदू धर्म की क्या स्थिति है?

औपचारिक शिक्षा का सिद्धांत हिंदू धर्म में बहुत ही सीमित रूप में है। औपचारिक शिक्षा केवल वेदों के अध्ययन तक ही सीमित है। यह स्वाभाविक था क्योंकि हिंदूओं की यह धारणा थी कि वेदों के बाहर कोई ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति होने के कारण औपचारिक शिक्षा वेदों के अध्ययन तक ही सीमित रही। इसका एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि हिंदुओं ने यह माना कि उनका यही कर्तव्य है; वेदों के अध्ययन के लिए स्थापित पाठशालाओं से केवल ब्राह्मणों को ही लाभ हुआ। शासन के कला तथा विज्ञान के अध्ययन के लिए संस्थाओं की स्थापना करना अपनी जिम्मेदारी नहीं समझी, जिनका व्यापारी तथा मजदूर वर्ग के लिए उपभोग हो सकता था। शासन की इस उपेक्षा के कारण उन्हें दूसरा रास्ता अपनाना पड़ा।

प्रत्येक वर्ग ने, वे जो कार्य परंपरा से करते आ रहे थे, उसे करने का ज्ञान अपने सदस्यों को देने का प्रबंध किया। वैश्य जाति के लोगों का यह कर्तव्य था कि प्रत्येक युवा वैश्य व्यापारिक तंत्र, गणित, कोई भाषा तथा व्यापार की कुछ वास्तविक जानकारी बन सके। इन बातों की शिक्षा उसे उसके पिता के साथ व्यापार करते समय मिल जाती थी। कलाकारों अथवा दस्तकारी वर्ग, जो शूद्रों से उभरा वह अपनी कला, दस्तकारी अपने बच्चों को इसी तरह देने लगा। शिक्षा पारिवारिक बन गई थी। शिक्षा व्यावहारिक थी। उसके केवल विशेष कार्य करने की कुशलता बढ़ाई। उसने नई धारणाएं नहीं बनाई। उसने दृष्टि का विकास नहीं किया, जिसका नतीजा यह

हुआ कि व्यावहारिक शिक्षा ने उसे केवल कार्य करने का एक अलग और समान तरीका सिखाया, जिसे उसकी कुशलता बदलते वातावरण में एक ठोस अयोग्यता बन गई। निरक्षरता हिंदू धर्म का एक कुटिल परंतु संपूर्ण प्रक्रिया का स्वभाविक अंग बन गई। इस प्रक्रिया को समझने के लिए हमारे लिए मनु द्वारा वेदों के अध्ययन तथा शिक्षा से संबंधित जो नियम बनाए गए, उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। उसमें निम्नलिखित नियमों पर विचार किया गया है :

1.88. वेदों का अध्ययन करने तथा वेदों की शिक्षा देने का कार्य सृष्टा ने ब्राह्मणों को सौंपा है।

1.89. क्षत्रियों को उसने (सृष्टा से) आदेश दिया है कि वे वेदों का अध्ययन करें।

1.90. वैश्यों को उसने (सृष्टा ने) आज्ञा दी.......वे वेदों का अध्ययन करें।

2.116. जो गुरु की आज्ञा के बगैर वेदों का ज्ञान प्राप्त करेगा, ऐसा माना जाएगा कि उसने धर्मशास्त्रों की चोरी करने का अपराध किया है और वह यातनाओं में डूब जाएगा।

4.99. द्विज, शूदों की उपस्थिति में वेदों का अध्ययन न करें।

9.18. स्त्रियों का वेदों के श्लोकों से कोई सरोकार नहीं है।

11.198. यदि किसी द्विज ने (अनुचित रूप से) वेदों का रहस्योद्घाटन किया है (अर्थात् शूद्रों तथा स्त्रियों को) तो वह (पाप करता है), एक वर्ष जौ का आहार करके अपने पाप का प्रायश्चित करता है।

इन श्लोकों में तीन भिन्न-भिन्न प्रस्तावों का समावेश है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वेदों का अध्ययन कर सकते हैं। परंतु इनमें से केवल अकेले ब्राह्मणों को ही वेदों की शिक्षा देने का अधिकार है। परंतु शूद्रों के संबंध में, उनको वेदों का अध्ययन ही नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके पठन को भी नहीं सुनना चाहिए।

मनु के उत्तराधिकारियों ने शूद्रों की वेदों के अध्ययन से संबंधित इस अयोग्यता को एक अपराध बना दिया, जिसके लिए कड़ी सजा हो सकेगी।

उदाहरण के लिए गौतम ऋषि ने कहा है :

12.4. यदि शूद्र जान-बूझकर वेदों का पठन सुनता है, तब उसके कानों में पिछलता शीशा या लाख डाली जाए। यदि वह वेदों का उच्चारण करता है, तब उसकी जबान काट दी जाए, यदि वह वेदों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है, तब उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएं।

कात्यायन ऋषि ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं।

ऐसा कहा जा सकता है कि प्राचीन संसार ने सामान्य लोगों को शिक्षा देने की अपनी जिम्मेदारी निभाने में असफल होने का अपराध किया है, परंतु संसार में ऐसा कोई भी समाज नहीं है, जिसने अपनी सामान्य जनता को धर्म-ग्रंथों का अध्ययन करने की मनाही का अपराध किया हो। किसी भी समाज ने कभी भी अपनी सामान्य जनता पर शिक्षा प्राप्त करने पर प्रतिबंध लगाने का अपराध नहीं किया है। किसी भी समाज ने ऐसी चेष्टा नहीं की कि सामान्य मनुष्यों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के प्रयासों को दंड देने योग्य अपराध घोषित किया जाए। केवल मनु ही एक ऐसा दैवी कानून बनाने वाला व्यक्ति है, जिसने सामान्य जन के ज्ञान के अधिकार को नकारा।

परंतु, मैं इस पर अधिक चर्चा करने की और प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मैं बहुत शीघ्र यह बताने के लिए चिंतित हूं कि सामान्य जनता पर वेदों के अध्ययन के विरुद्ध प्रतिबंध लगाने से किस प्रकार निरक्षरता तथा विधर्मी जीवन के अज्ञान का निर्माण हुआ? इसका उत्तर सरल है। यह बात समझना आवश्यक है कि पढ़ाई-लिखाई का वेदों के अध्ययन तथा शिक्षा से स्वभाविक संबंध है। पढ़ाई-लिखाई उन लोगों के लिए एक आवश्यक चीज थी, जिन्हें वेदों के अध्ययन का विशेष अधिकार था और वे इस अध्ययन के लिए मुक्त थे। जिन्हें वेदों के पढ़ने का अधिकार नहीं था, उनके लिए पढ़ाई-लिखाई आवश्यक नहीं थी। इस प्रकार से शिक्षा वेदों के अध्ययन का एक निमित्त बन गई। नतीजा यह हुआ कि वेद के अध्ययन तथा शिक्षा से संबंधित सिद्धांत पढ़ाई-लिखाई की कला पर भी लागू हो गया। जिन लोगों को वेदों के अध्ययन का अधिकार था, उन लोगों को ही पढ़ने-लिखने का अधिकार प्राप्त हुआ। जिन लोगों को वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं था, उन लोगों को पढ़ने-लिखने के अधिकार से भी वंचित रखा गया। इस प्रकार यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि मनु के विधान के अनुसार पढ़ना-लिखना कुछ मुट्ठी भर ऊंचे वर्णों का अधिकार बन गया और निरक्षरता उन अनके नीचे वर्णों का भाग्य बन गई।

इस विश्लेषण में थोड़ी आगे बढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि शिक्षा का निषेध करने के कारण मनु ही उस अज्ञान के लिए जिम्मेदार है। जिसमें सर्वसाधारण जनता फंस गई।

इस प्रकार हिंदुत्व ज्ञान के प्रसार का एक माध्यम होने की बजाए, अंधकार का एक सिद्धांत है।

इन तथ्यों पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि स्वतंत्रता की उन्नति के लिए जिन स्थितियों की आवश्यकता होती है, हिन्दू धर्म उनके विरुद्ध है। इसलिए वह स्वतंत्रता को नकारता है।

IV

क्या हिंदू धर्म बंधुत्व को मान्यता प्रदान करता है?

समाज में दो शक्तियां कार्यरत होती हैं, व्यक्तिवाद और बंधुतत्व। व्यक्तिवाद का सर्वत्र संचार है। प्रत्येक व्यक्ति निरंतर इस तरह के सवाल करता है कि वह तथा उसके पड़ोसी, क्या दोनों भाई-भाई हैं? क्या हम आपस में रिश्तेदार हैं? क्यों मैं उनका पालक हूं? तब मैं उनके साथ क्यों न्याय करूं? और अपने स्वहितों की रक्षा के दबाव में आकर वह ऐसा कार्य करता है, जिसका लक्ष्य केवल उसका अपना अस्तित्व होता है। इसके कारण एक असामाजिक और कभी-कभी समाज-विरोधी व्यक्तित्व का निर्माण होता है। बंधुभाव, बिल्कुल इसके विपरीत एक शक्ति है। यह आपसी मित्रत्व भावना का दूसरा नाम है। बंधुभाव का उस भावना में समावेश होता है, जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की श्रेष्ठता के साथ अपनी पहचान बनाना सिखाती है। जिसके कारण दूसरों की उत्तमता उसके लिए एक स्वाभाविक तथा आवश्यक चीज बन जाती है; जिसके प्रति उसे उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना वह शारीरिक स्थिति के अस्तित्व के लिए अपने पर ध्यान देता है। बंधुत्व की इस भावना के कारण ही एक व्यक्ति अपने-आपको शेष सहयोगी प्राणियों के साथ सुख प्राप्ति के साधनों में स्वयं को प्रतिस्पर्धी नहीं मानता, अन्यथा वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उनकी असफलता की कामना करता है, ताकि वह स्वयं सफल हो सके। व्यक्तिवाद से अराजकता का निर्माण होता है। बंधुत्व ही ऐसी भावना है, जो उसे नियंत्रित कर सकती है और मनुष्य मात्र में नैतिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक बन सकती है।

बंधुभाव की आपसी मैत्री की यह भावना कैसे उन्नत हो सकती है? जे. एस. मिल कहते हैं कि यह भावना का नैसर्गिक भाव है।

> ''मनुष्य के लिए सामाजिक अवस्था एक प्रकार से इतनी अधिक स्वभाविक, अत्यावश्यक तथा व्यवहारिक बात है किन्हीं कुछ असाधारण परिस्थितियों अथवा किन्हीं ऐच्छिक अचेतन प्रयासों के अपवाद को छोड़कर, वह समाज का एक सदस्य है, इस भावना के विपरीत कोई दूसरी बात व्यक्ति सोच भी नहीं सकता है, और उसका समाज के साथ का वह संबंध, जैसे-जैसे मनुष्य असभ्य अवस्था से मुक्त हो रहा है, वैसे-वैसे अत्यधिक सुदृढ़ हो रहा है। इसलिए सामाजिक परिवेश की कोई भी स्थिति, जिसमें वह जन्म लेता है, और जो मनुष्य-मात्र की नियति है, यह भावना प्रत्येक व्यक्ति के सोच-विचार का अभिन्न अंग बन जाती है। तब आज, मालिक तथा गुलाम के संबंधों

> का अपवाद छोड़कर मानवप्राणियों के समाज के उस स्वरूप की कल्पना ही नहीं की जा सकती, जिसमें सभी के हितों की समझ का आधार एक न हो। समान स्तर के लोगों का समाज केवल इसी धारणा के अनुसार अस्तित्व में रह सकता है कि सभी को समान माना जाए और क्योंकि सभ्यता की सभी अवस्थाओं में निरंकुश सम्राट को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति बराबर है, प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों के साथ उन समान शर्तों के आधार पर जीवन व्यतीत करना ही पड़ता है; और प्रत्येक युग में एक ऐसी अवस्था विकसित होती रही है, जिसमें व्यक्ति के लिए दूसरों की शर्तों के अनुसार हमेशा जीवन व्यतीत करना संभव नहीं होता। इस प्रकार लोग एक ऐसी अवस्था में जीवन व्यतीत करने के आदी हो जाते हैं, जिसमें इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि दूसरे लोगों के हितों की अवमानना की जा सकती है।''

दूसरों के प्रति मित्रत्व की इस भावना का क्या हिंदुओं में कोई स्थान है? इस प्रश्न पर निम्नलिखित तथ्य पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

इस संबंध में किसी का भी ध्यान आकर्षित करने वाली पहली यथार्थता है जातियों की संख्या। किसी ने भी आज तक उनकी वास्तविक संख्या की गिनती नहीं की है, परंतु यह अनुमान किया जा सकता है कि उनकी कुल मिलाकर संख्या दो हजार से कम नहीं होगी, कदाचित वह तीन हजार हो। इस वास्तविकता का केवल यही एक निराशाजनक पहलू नहीं है। कुछ अन्य पहलू भी हैं। जातियों को उपजातियों में विभाजित किया गया है। उनकी संख्या अगणित है। ब्राह्मण जाति की कुल जनसंख्या लगभग डेढ़ करोड़ के बराबर है, परंतु ब्राह्मण जाति में उपजातियों की संख्या 1886 के बराबर है। केवल अकेले पंजाब में ही पंजाब राज्य के सारस्वत ब्राह्मण 469 उपजातियों में, और कायस्थ लोग 590 उपजातियों में विभाजित हैं। इस प्रकार हम इन संख्याओं के आधार पर सामाजिक जीवन को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित करने वाली इस अंतहीन प्रक्रिया को स्पष्ट कर सकते हैं।

इस विभाजन की प्रक्रिया का तीसरा पहलू हैं, वे छोटे-छोटे खंड जिनमें जातियां विभाजित हो गईं। बनियों की कुछ उपजातियों की संख्या 100 से अधिक नहीं हो सकती। वह आपस में इतने नजदीकी रिश्तेदार बन गए हैं कि सगोत्रता के नियमों का उल्लंघन किए बिना अपनी ही जाति में विवाह करना उनके लिए बहुत ही कठिन बन गया है।

यहां एक बात ध्यान में रखनी होगी। कौन से छोटे-छोटे कारण इस विभाजन के कारण बने।

जाति व्यवस्था का आधिश्रेणित चरित्र भी उतना ही महत्वपूर्ण है। जातियां एक ऐसी क्रमिक व्यवस्था है, जहां एक जाति सबसे ऊपर है और सर्वोच्च है, तो दूसरी जाति सबसे नीचे है, और इन दोनों के बीच अनेक जातियां हैं, जो किसी के ऊपर हैं और किसी के नीचे हैं। जाति व्यवस्था श्रेणियों की एक व्यवस्था है, जिसमें सबसे श्रेष्ठ और सबसे नीच जाति को छोड़कर प्रत्येक जाति की दूसरी कुछ जातियों पर प्रधानता बनी हुई है।

इस प्रधानता अथवा श्रेष्ठता को कैसे निर्धारित किया जाता है? यह श्रेष्ठता और हीनता अथवा कनिष्ठता की व्यवस्था उन नियमों के आधार पर निर्धारित की जाती है, जिसका (1) धार्मिक संस्कारों के साथ, और (2) अनुरूपता के साथ संबंध है।

धर्म, प्रधानता के नियमों के आधार पर स्वयं को तीन प्रकार से प्रकट करता है। प्रथम, धार्मिक समारोह द्वारा। दूसरा, धार्मिक संस्कार में पढ़े जाने वाले मंत्रों द्वारा, तीसरा, पुरोहित के द्वारा।

हम, समारोह को प्रधानता के निमयों के स्रोत मानकर आरंभ करते हैं। यहां हमारे लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि हिंदू धर्म शास्त्रों में सोलह धार्मिक संस्कारों को निर्देशित किया गया है। यद्यपि, यह सब हिंदू धार्मिक संस्कार हैं, फिर भी प्रत्येक हिंदू जाति इन सभी सोलह संस्कारों पर अपना अधिकार नहीं जता सकती। कुछ के कुछ विशेष संस्कार करने की अनुमति है, तो कुछ जातियों को इन संस्कारों को करने की अनुमति नहीं है। उदाहरण के लिए हम पवित्र जनेऊ पहनने के उपनयन संस्कार को ही लेते हैं। कुछ जातियां जनेऊ नहीं पहन सकतीं। इस संस्कार को कराने के अधिकार के लिए भेदभाव होता है। जिन जातियों को सभी संस्कारों को करने का अधिकार है, उन जातियों का स्थान समाज में उन लोगों से निश्चित ही श्रेष्ठ होता है, जिन्हें केवल कुछ ही संस्कार करने का अधिकार है।

अब हम मंत्रों को देखें। श्रेष्ठता के नियमों का यह दूसरा स्रोत है। हिंदू धर्म के अनुसार, एक ही संस्कार को दो प्रकार से मनाया जा सकता है - (1) वेदोक्त, और (2) पुराणोक्त। वेदोक्त पद्धति में संस्कार, वेदों के मंत्रों के उच्चारण के साथ किए जाते हैं। पुराणोक्त पद्धति में इन संस्कारों को पुराणों के मंत्रों से किया जाता है। हिंदू धर्म-शास्त्र की दो भिन्न-भिन्न श्रेणियां हैं - (1) वेद, जो चार है, और (2) पुराण, जो अठारह हैं। यद्यपि उनका धर्म-शास्त्रों के रूप में आदर किया जाता है, फिर भी उन सबको समान मान्यता प्राप्त नहीं है। वेदों की सर्वश्रेष्ठ मान्यता है, तो पुराणों की सबसे निम्न स्तर की मान्यता है। इन मंत्रों के कारण सामाजिक प्रधानता किस प्रकार से निर्मित होती है, यह इस बात को ध्यान में रखने पर स्पष्ट हो उठती है कि प्रत्येक जाति को वेदोक्त पद्धति से समारोह करने का अधिकार नहीं है। केवल तीन ही जातियां इन सोलह

संस्कारों में से एक पर अपना अधिकार जता सकती हैं। परंतु, उनमें भी एक जाति को उसे वेदोक्त पद्धति से करने का अधिकार है, तो अन्य को पुराणोक्त पद्धति से। एक धार्मिक क्रिया को संपन्न करने के लिए जिस प्रकार के मंत्र–पाठ की अनुमति होती है, जाति की श्रेष्ठता का निर्धारण भी उसी तरह किया जाता है। जिस जाति को वेदोक्त मंत्रों का प्रयोग करने का अधिकार है, निश्चय ही वह जाति उस जाति से श्रेष्ठ मानी जाती है, जिसे पुराणोक्त मंत्रों का प्रयोग करने का अधिकार है।

धर्म से संबंधित प्राथमिकता का दूसरा स्रोत है पुरोहित। हिंदू धर्म में धाार्मिक समारोह से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए पुरोहित की आवश्यकता होती है। धर्म शास्त्रों द्वारा नियुक्त पुरोहित ब्राह्मण है। इसलिए ब्राह्मण का परित्याग नहीं किया जा सकता। परंतु धर्म–शास्त्र यह बात नहीं बताते कि ब्राह्मण द्वारा किसी भी और प्रत्येक हिंदू के बिना उसकी जाति पूछे धार्मिक संस्कार करने के किस निमंत्रण को स्वीकार किया जाए और किस नहीं। यह बात ब्राह्मण की इच्छा पर छोड़ दी गई है। दीर्घकालीन तथा सुस्थापित प्रथाओं द्वारा अब यह बात निश्चित हो गई है कि किन जातियों के समारोह वह मनाएगा और किनके नहीं। यह वस्तु–स्थिति दो जातियों के बीच में श्रेष्ठता का आधार बन गई है। जिस जाति के संस्कार में ब्राह्मण उपस्थित रहता है, वह जाति उस जाति से श्रेष्ठ मानी जाती है, जिनके धार्मिक संस्कार में ब्राह्मण उपस्थित नहीं रहता।

श्रेष्ठता के नियमों का दूसरा स्रोत, सहभोज है। यहां इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि जिस तरह से सहभोज के नियमों ने प्रधानता के नियमों का निर्माण किया, वैसा विवाह के बारे में नहीं हुआ। इसका कारण अंतर्ताजीय विवाह तथा अंतर्जातीय भोज के प्रतिबंध के नियमों में निहित है। अंतर्जातीय विवाह पर लगे प्रतिबंध को तो एक बार किसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन अंतर्जातीय भोज पर लगा प्रतिबंध व्यावहारिक नहीं। उसका पालन नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। यह जरूरी नहीं कि उसे हर बार नई जगह पर उसकी अपनी जाति के लोग ही मिलें। तब ऐसी स्थिति में वह अपरिचित लोगों के साथ होता है। विवाह के लिए तो वह अपनी जाति में लौटने तक का इंतजार कर सकता है, लेकिन भोजन तो उसे प्रतिदिन चाहिए। उसके लिए तो किसी न किसी से उसे भोजन लेना ही पड़ेगा। नियम यह है कि वह अपने से ऊंची जाति से ही अन्न या भोजन ले सकता है, निम्न जाति से नहीं। यह बात विशेष रूप से ब्राह्मणों द्वारा अनुपालित नियमों के द्वारा निश्चित की जाती है। इसी संदर्भ में भोजन और पानी के लिए व्यापक निर्धारित नियम हैं। (1) वह कुछ लोगों से केवल पानी ले सकता है और दूसरों से नहीं। (2) ब्राह्मण किसी भी अन्य जाति के पानी में पकाए खाने को स्वीकार नहीं करेगा, और

(3) वह कुछ जाति के लोगों से तेल में पका हुआ खाना स्वीकार कर सकता है। जिस बर्तन में अन्न तथा पानी लिया जाए, उसके लिए भी अलग नियम है। कुछ जाति के लोगों से वह मिट्टी के बर्तन में भोजन अथवा पानी ले सकता है। इसी तरह से कुछ जातियों से केवल धातु के बर्तन में और कुछ से केवल कांच के बर्तन में। इस आधार पर जाति का स्तर निश्चित होता है। यदि वह तेल में पका भोजन किसी जाति से लेता है, तब उस जाति का स्तर, जिस जाति से वह खाना स्वीकार नहीं करता है, ऊंचा हुआ। यही बात पानी के बारे में भी है यदि वह धातु के बर्तन में पानी लेता है तब उसका स्थान उससे ऊंचा है, जिसका पानी वह मिट्टी के बर्तन में लेता है और यह दोनों जातियां उस जाति से ऊंची हैं, जिससे वह कांच के बर्तन में पानी लेता है। कांच ऐसा पदार्थ है जिस पर दाग नहीं लगता। इसलिए ब्राह्मण उससे सबसे निम्न जाति के व्यक्ति से भी पानी ले सकता है लेकिन दूसरे धातु के बर्तन में दाग लग सकता है, अतः अन्य धातु के बर्तन में पानी ले या न ले, यह ब्राह्मण पर निर्भर करता है।

यही कुछ मुद्दे हैं, जो हिंदुओं की जाति-श्रेष्ठता की व्यवस्था में किसी जाति का स्थान और स्तर निश्चित करते हैं।

जाति-व्यवस्था की यह क्रमिक बनावट एक विशेष तरह की सामाजिक मानसिकता बनने और बनाने के लिए जिम्मेदार है, जिस पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। प्रथम, इसके कारण विभिन्न जातियों में प्रतिष्ठा के लिए प्रतिस्पर्धी की भावना निर्मित होती है। दूसरा, विभिन्न जातियों के बीच एक दूसरे के लिए द्वेष और घृणा की भावना पनपती है।

इस द्वेष तथा घृणा की भावना ने केवल कहावतों में ही स्थान प्राप्त नहीं किया, बल्कि उसे हिंदू साहित्य में भी स्थान मिला है। मैं यहां, *सहयादि* खंड नाम के धर्म-शास्त्र का संदर्भ दे रहा हूं जो अनेक पुराणों में से एक है। यह पुराण भी हिदुंओं के पवित्र-ग्रंथों का ही एक भाग है लेकिन इसका विषय अन्य पुराणों से बिल्कुल अलग है। इसमें विभिन्न जातियों की मूल उत्पत्ति के बारे में बतलाया गया है। ऐसा करते हुए, उसमें अन्य जातियों को कुलीन उत्पत्ति का बताया गया है, जब कि ब्राह्मण को सबसे घृणित उत्पत्ति का बताया गया है। यह सब मनु से प्रतिशोध की प्रतिक्रिय स्वरूप किया गया। एक प्रकार से यह ब्राह्मण जाति पर लगाया गया बहुत ही बुरा लांछन है। स्वभाविक था कि पेशवाओं ने उसे नष्ट करने की आज्ञा दी थी। परंतु इस पुराण की कुछ प्रतियां नष्ट होने से बच गई।

लेकिन कुछ प्रश्न करने से पहले मैं यहां एक बात का और उल्लेख करता हूं।

संभवतः वर्तमान हिंदू मार्क्सवाद के घोर विरोधी हैं। इसके पीछे कारण यह है कि मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत से वे बहुत ही भयभीत हो जाते हैं। लेकिन वहीं लोग यह भूल जाते हैं कि भारत न केवल वर्ग-संघर्ष, बल्कि वर्ग-युद्ध की भूमि बन चुका है।

सबसे दुखदायी वर्ग–युद्ध ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच हुआ था। हिन्दुओं का श्रेष्ठ साहित्य इन दो वर्णों के बीच हुए संघर्षों से भरा पड़ा है।

पहला ज्ञात संघर्ष ब्राह्मण और राजा वेण के बीच हुआ था। वेण राजा अंग का पुत्र था, जो अत्रि वंश का था। उसकी मां सुनीता, मृत्यु की बेटी थी। काल (मृत्यु) की पुत्री के इस पुत्र पर अपने मातृक दादा नाना के कलंक के कारण वह अपने राजा के कर्तव्यों का त्याग करके विषय–वासना में जीवन व्यतीत कर रहा था। इस राजा ने वेदों की आज्ञाओं का उल्लंघन करते हुए अपनी गैर–धार्मिक व्यवस्था की स्थापना की थी। उसके राज्य में लोग धर्मशास्त्रों को अध्ययन नहीं करते थे और देवों को यज्ञ के समय सोमरस की आहुति नहीं दी जाती थी। उसने स्पष्ट घोषित किया था –

> 'मैं ही यज्ञ का उद्देश्य हूं, यज्ञकर्ता भी और स्वयं यज्ञ हूं। मेरे लिए ही यज्ञ किया जाए और आहुति दी जाए।'

बाद में मारिची ऋषि के नेतृत्व में ऋषियों ने उसे निम्न प्रकार से संबोधित किया–

'हम एक ऐसा समारोह मनाने जा रहे हैं, जो अनेक वर्षों तक चलेगा। हे वेण, अनाचार का पालन न करो। यह तुम्हारा शाश्वत् कर्तव्य नहीं है। तुम प्रत्येक लक्षण से अत्रि के वंश के प्रजापति हो और तुन्हें अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।'

उस मूर्ख वेण ने, जो सदाचार नहीं जानता था, इन महान ऋषियों की हंसी उड़ाते हुए उन्हें उत्तर दिया, 'मेरे अलावा कर्तव्य की आज्ञा देने वाला और कौन हो सकता है। मुझे किसकी आज्ञा का पालन करना है? इस पृथ्वी पर पवित्र ज्ञान, सामर्थ्या, तपस्या और सत्य में मेरे बराबर कौन हो सकता है? जो लोग झूठे तथा मूर्ख हैं, वे नहीं जानते कि मैं ही सभी मनुष्यों का स्रोत हूं। इस कथन का विश्वास करने में कोई झिझक नहीं। यदि मैं चाहूं तो सारी पृथ्वी को जलाकर राख कर सकता हूं। उस पर मूसलाधार वर्षा ला सकता हूं, अथवा स्वर्ग और पृथ्वी को बंदी बना सकता हूं।'

अंत में उसकी अज्ञानता और मूर्खता के कारण जब वेण पर उनका कोई अधिकार नहीं चल सका, तब वे शक्तिशाली ऋषि क्रोधित हो गए और उन्होंने इस बलवान तथा झगड़ालू राजा को पकड़ लिया और उसकी बाईं जांघ को घिसने के बाद एक काला मनुष्य पैदा हुआ जो कद का छोटा था और भयभीत होने के कारण हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसे उत्तेजित देखकर अत्रि ने कहा, 'बैठ जाओ निषाद'। वह बाद में निषाद वंश का संस्थापक बना। वह धीवर (मछेरे) लोगों का भी जन्मदाता है, जो वेण के भ्रष्ट आचरण से उत्पन्न हुए। इसी प्रकार विंध्याचल निवासी तुरवार तथा तुम्बुरा, दोनों उसके इसी प्रकार के आचरण से उत्पन्न हुए, जो अत्यंत उच्छृंखल थे।

बाद में उन्हीं शक्तिशाली ऋषियों ने क्रोधित और उत्तेजित होकर पुनः वेण के दाएं हाथ को घिसा, जैसे लोग अरनी की लकड़ी घिसते हैं, और उससे अग्नि के समान तेजस्वी शरीर वाला प्रिथ उत्पन्न हुआ।

इस वेण के पुत्र (प्रिंथ) ने बाद में हाथ जोड़कर उन महान ऋषियों को संबोधित किया–

'प्रकृति ने मुझे समझने की बहुत कमजोर शक्ति दी है। मुझे बताओ, मैं अपने कर्तव्यों को कैसे समझूं? मुझे सही तरह से बताएं कि मैं उनका उपयोग कैसे करूं? मैरे ऊपर संदेह न करो। मेरे कर्तव्यों और उद्देश्यों के बारे में आप जो कुछ भी कहेंगे, मैं पालन करूंगा।'

तब उन देवताओं तथा महान ऋषियों ने उनसे कहा –

'कोई भी कर्तव्य तुम्हें बताया जाए, उसका यह ध्यान किए बिना कि वह तुम्हें पसंद है अथवा नहीं, सभी प्राणी मात्र को समान दृष्टि से देखते हुए, क्रोध, लालसा तथा अहंकार, इन तीनों लालसाओं को दूर रहकर बिना झिझक पालन करो। अपनी सामर्थ्य से उन लोगों के शास्त्रों पर रोक लगाओ जो सदाचार से हट जाते हैं। अपने कर्तव्य के प्रति निरंतर श्रद्धा रखो और मन, वचन, कर्म से तुम पृथ्वी पर वेद या ब्राह्मणों की रक्षा करोगे, और वचन दो कि तुम ब्राह्मणों को दंड नहीं दोगे' तब वेण के पुत्र ने उनकी बात मन से स्वीकार की। परिणामस्वरूप सभी ऋषि उससे प्रसन्न हुए। ज्ञानी मुनि शुक्र उसके पुरोहित बने। बालखिल्प और सारस्वत उसके मंत्री और गर्ग ऋषि उसके ज्योतिषि बने।

दूसरा संघर्ष ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा पुरुरवा के बीच हुआ। उसका संक्षिप्त संदर्भ महाभारत के आदि पर्व से प्राप्त होता है।

पुरुरवा का जन्म इला से हुआ था। उसका समुद्र के तेरह द्वीपों पर साम्राज्य था और ऐसे व्यक्ति उसके साथी थे, जो सभी श्रेष्ठ मानव थे। वह स्वयं भी एक महान और कीर्तिवान पुरुष था। अपनी सामर्थ्य के नशे में चूर होकर पुरुरवा ने ब्राह्मणों के साथ युद्ध करके उनके सभी अधिाकार छीन लिए थे। यहां तक कि ब्राह्मण के स्वर्ग से प्रकट हुए सनत कुमार की चेतावनी को भी उसने नहीं माना। इस पर क्रोधित होकर ऋषियों ने उसे शाप दे दिया। इस तरह से वह लोभी सम्राट अपनी शक्ति के अहंकार के कारण नष्ट हो गया।

तीसरे टकराव की घटना ब्राह्मणों और राजा नहुष के बीच में घटी। यह कहानी *महाभारत* के उद्योग पर्व में विस्तार से दी गई है यह इस प्रकार से है:

राक्षक वृत्र की हत्या करने के बाद इंद्र एक ब्राह्मण की हत्या से घबरा गया (क्योंकि वृत्र को ब्राह्मण माना जाता था), और उसने अपने–आपको पानी में छुपा

लिया तब देवताओं के इस राजा के अदृश्य हो जाने के कारण स्वर्ग तथा पृथ्वी का संपूर्ण व्यवहार भ्रम में पड़ गया तब ऋषि और देवताओं ने नहुष से राजा बनने की प्रार्थना की। बहुत कहने के बाद उसने राजा बनना स्वीकार किया। इस पद पर पहुंचने से पहले तक उसने सदाचार का जीवन व्यतीत किया था लेकिन भोग-विलास और ऐश्वर्य की सभी वस्तुओं के बीच वह अपने संयम को नियंत्रण में नहीं रख सका। इस तरह वह रासलीला में खो गया। वहां तक कि इंद्र की पत्नी इंद्राणी को भी भोगने की उसकी इच्छा हुई। रानी ने देवताओं के गुरु अंगिरस बृहस्पति की शरण ली, जिसने उसे रक्षा का वचन दिया। इस पर राजा नहुष बहुत क्रोधित हुआ। देवताओं ने उसे बहुत समझाया, लेकिन नहुष बोला कि 'व्यभिचारी इच्छाओं में वह स्वयं इंद्र से अधिक बुरा नहीं है। प्रख्यात ऋषि की पत्नी अहिल्या के साथ इंद्र ने उसके पति के जीते जी ही संभोग किया था। तब आप सभी ने उसे क्यों नहीं रोका?'

नहुष के ऐसा कहने पर देवता इंद्राणी को लाने के लिए चले गए। लेकिन बृहस्पति उसे देने के लिए तैयार नहीं था। तथापि उसके कहने पर इंद्राणी ने नहुष से कुछ देर के लिए समय की याचना करते हुए कहा कि पहले वह जानना चाहती है कि उसके पति का क्या हुआ?

उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। बाद में इंद्र की ओर से देवता विष्णु के पास गए और विष्णु ने वचन दिया कि यदि इंद्र उसके लिए बलि दे, तब वह दोषमुक्त हो जाएगा तथा अपना प्रभुत्व प्राप्त करेगा। इस तरह नहुष का नाश हो जाएगा। इस आधार पर इंद्र ने बलि दी, जिसका परिणाम इस प्रकार बताया गया है : 'ब्राह्मण हत्या का पाप, वृक्ष, नदियां, पर्वत, पृथ्वी, स्त्रियां तथा अन्य तत्वों में विभाजित होने के कारण देवों के राजा वसव (इंद्र) की दोषों तथा पाप से मुक्ति हो गई और वह आत्मनुशासित बन गया।' इसके कारण नहुष के श्रेष्ठत्व को धक्का पहुंचा। बताया जाता है कि उसने अपना प्रभुत्व पुनः प्राप्त कर लिया होगा क्योंकि, जैसा हमें बताया गया है, इंद्र फिर नष्ट हो गया था, तथा अदृश्य हो गया था। जब इंद्र अदृश्य हो गया, तब इंद्राणी अपने पति की खोज में निकली। बहुत कोशिशों के बाद उपश्रिता (रात्रि तथा निशाचरों की देवी) की सहायता से उसने एक बहुत छोटे रूप में, हिमालय से उत्तर में एक समुद्र में कमल के डंठल पर से उसे जीवित खोज निकाला। उसने उसे नहुष के दुष्ट इरादों के बारे में बताया और कहा कि वह अपनी शक्ति के बल पर उसे मुक्त कराए और अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित करे। चूंकि नहुष के पास इंद्र से अधिक शक्ति थी, अतः उसने कोई कदम उठाने से पहले उसे एक उपाय बताया, जिसमें अपहरण करने वाले को उसके स्थान से हटाया जा सकता है। उसने अपनी पत्नी से कहा कि वह नहुष से कहे, 'यदि वह ऐसी दिव्य पालकी पर सवार हो उसके पास आएगा जिसे ऋषि कंधा दिए हों, तो वह स्वयं को उसे समर्पित कर देगी' इस प्रकार देवताओं की यह बात नहुष के पास पहुंची,

जिसने इंद्राणी का स्वागत किया। उसने अपना प्रस्ताव रखा। उसने कहा – 'हे देवताओं के राजा, मेरी कामना है कि आप ऐसे वाहन पर सवार होकर आएं जैसा विष्णु, रुद्र और राक्षसों के पास भी न हो, और प्रख्यात ऋषि उसके सारथी हों।'

नहुष ने इस प्रार्थना का अनुमोदन किया और स्वयं अपने मुंह से अपनी ही प्रशंसा करते हुए कहा : 'जो मुनियों को अपना सारथी बनाए, वह किसी अल्प शक्ति का पुरुष नहीं हो सकता। मैं शक्ति का कठोर उपासक हूं। मैं भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्य का स्वामी हूं और प्रत्येक बात मुझ पर निर्भर होती है। इसलिए हे देवी, तुम्हारे प्रस्ताव का मैं बिना संकोच पालन करूंगा। सात ऋषि तथा सभी ब्राह्मण मुनि मेरे रथ के सारथी होंगे। हे सुंदर देवी, अब तू मेरी शक्ति और चमत्कार देख।' इसी प्रकार यह कहानी आगे बढ़ती है : इसी के अनुसार, उस अहंकारी, क्रूर, धर्मद्रोही, दुष्ट तथा दुराचारी पुरुष ने सभी ऋषियों को अपने रथ से बांध दिया। ऋषियों ने उसकी आज्ञा का पालन किया। इस प्रकार उसने उन्हें रथ खींचने के लिए बाध्य किया। इंद्राणी फिर बृहस्पति के पास गई, जिसने उसे आवश्वासन दिया। किस तरह वह स्वयं उत्पीड़नकर्ता के विनाश के लिए यज्ञ करेगा और इंद्र का अदृश्य स्थान खोज निकलेगा। फिर अग्नि को इंद्र की खोज करने और बृहस्पति के पास लाने के लिए भेजा गया। इंद्र के आगमन पर बृहस्पति ने उसकी अनुपस्थिति में जो कुछ भी वहां हुआ, वे सारी बातें कह डालीं। जब इंद्र, कुबेर, यम, सोम तथा वरुण के साथ नुहष का विनाश करने की योजना बना रहे थे, तब अगस्त्य मुनि वहां आए और उन्होंने इंद्र को उसके प्रतिस्पर्धी की हार पर बधाई दी। घटना कैसे घटी, उसकी कहानी इस तरह से बताई है : 'उस पापी नहुष का रथ खींचते-खींचते ब्राह्मण ऋषियों ने महापुरुष नहुष से एक समस्या का समाधान करने को कहा और पूछा – 'हे महापराक्रमी कीर्तिवान राजा, जिन ब्राह्मण मंत्रों का पाठ राजा को बलि देते समय किया जाता है, उन्हें आप अधिकृत मानते हैं या नहीं?'

नहुष ने, जिसकी बुद्धि अंधकार से घिरी हुई थी, उत्तर दिया : ''नहीं' ऋषियों ने एक साथ मिलकर कहा : 'तुम अनाचार में व्यस्त हमें सदाचार नहीं करने दे रहे हो। यह मंत्र, जिसका इसके पूर्व महान ऋषियों ने पठन किया है, हम इसे पवित्र मानते हैं।' इस तरह मुनियों से वाद-विवाद करते हुए, अनाचार से प्रभावित होकर राजा ने मेरे (मुनि अगस्त) मस्तक पर अपना पैर रख दिया, जिसके कारण राजा की कीर्ति समाप्त हुई और साथ ही शक्ति भी नष्ट हो गई। जब एकाएक वह उत्तेजित हो गया, और भय से घबराया तब मैंने कहा : 'हे मूर्ख, तुम उन पवित्र मंत्रों की निंदा करते हो जिनकी रचना पूर्व ऋषियों ने की है। यहीं नहीं, ब्रह्मा-समान स्तर वाले ऋषियों को अपना रथ खींचने के लिए बाध्य करते हो। अतएव तुम अपनी कीर्ति तथा योग्यता खोकर स्वर्ग से उतरकर धरती पर निवास करो। तब आगे चलकर तुम एक हजार वर्षों तक धरती पर सांप की तरह घिसटते रहोगे और समय पूरा होने पर स्वर्ग में जाओगे।

इस तरह उस दुष्ट मनुष्य का पतन हो गया।

इसके पश्चात् राजा निमी और ब्राह्मण के संघर्ष का संदर्भ है। *विष्णु पुराण* में यह कथा निम्न प्रकार से है :

राजा निमी ने ब्राह्मण ऋषि वशिष्ठ से एक ऐसे यज्ञ का अधिष्ठाता बनने की प्रार्थना की, जो एक हजार वर्षों तक चले। उत्तर में वशिष्ठ ने कहा कि वे पांच सौ वर्षों के लिए इंद्र के साथ यज्ञ करने में पहले से ही व्यस्त हूं और उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की, लेकिन कहा कि इस अवधि के बीत जाने के बाद वे उसके पास लौट आएंगे। राजा ने कुछ नहीं कहा और वशिष्ठ वहां से चले गए। लेकिन वापस लौटने पर ऋषि ने देखा कि राजा ने गौतम ऋषि (जो कि ब्राह्मण ऋषि वशिष्ठ के ही बराबर तेजस्वी थे) और अन्य ऋषियों को उस यज्ञ के लिए नियुक्त किया। उपेक्षा से भरे इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर उन्होंने राजा को, जो उस समय नींद में था, शाप दिया कि उसका शरीर नष्ट हो जाएगा। इसकी प्रतिक्रिया में राजा ने भी वशिष्ठ को शाप दिया कि राजा के शाप ने भी अपना प्रभाव दिखलाया उसके बाद उसकी मृत्यु हो गई। बाद में वशिष्ठ ने दूसरा शारीरिक रूप धाारण किया। इस शाप के परिणामस्वरूप वशिष्ठ का भी तब पुनर्जन्म हुआ, जब उर्वशी को देखकर ऋषियों के वीर्य की बूंदें गिरीं। निमी के शव का संलेपन किया गया। जिस यज्ञ को वशिष्ठ ने आरंभ किया था, उसके समापन पर देवगण ऋषि–मुनियों से विचार–विमर्श के बाद उसे पुनर्जीवित करना चाहते थे, लेकिन वशिष्ठ ने इंकार कर दिया, तब देवताओं ने उसकी इच्छा के अनुसार उसका अस्तित्व सभी जीवित प्राणियों की आंखों के अंदर सुरक्षित कर रख दिया। इसी तथ्य के परिणामस्वरूप वे (ऋनि–मुनि) आंखों को मूंदते–खोलते रहते हैं (निमिष का अर्थ है, 'पलक झपकाना')। मनु ने ब्राह्मणों और राजा सुमुख के बीच एक अन्य संघर्ष की चर्चा की है। लेकिन इस संघर्ष के विस्तृत विवरण नहीं मिलते।

ब्राह्मण और क्षत्रिय राजाओं के बीच जो संघर्ष हुए, उनके यह कुछ–एक उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से हमें ऐसा हमें समझना चाहिए कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच दो वर्गों के रूप में संघर्ष नहीं हुए। इन दो वर्गों के बीच भी संघर्ष हुए, जो कि राजाओं के साथ हुए संघर्षों से निराले है। यह बात ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त सामग्री से स्पष्ट होती है। इस संदर्भ में तीन घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

पहला संदर्भ दो व्यक्तियों, विश्वामित्र और वशिष्ठ के बीच है, जो क्रमशः क्षत्रिय और ब्राह्मण थे। उन दोनों के बीच विवाद का विषय यह था कि क्या कोई क्षत्रिय ब्राह्मणत्व का दावा कर सकता है?

रामायण में इस कथा का उल्लेख है, और निम्न प्रकार से है :

उसी कहानी के आधार पर हमें पता चलता है कि पहले कुश नाम का एक राजा था, जिसके पिता का नाम प्रजापति था। कुश राजा का भी एक पुत्र था जिसका नाम

कुशनाभ था। कुशनाभ गाधि का पिता था। गाधि विश्वमित्र का पिता था। इसी विश्वामित्र ने पृथ्वी पर हजारों वर्ष राज्य किया। एक बार जब वह पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा था, वशिष्ठ के आश्रम जा पहुंचा। वशिष्ट का यह आश्रम अनेक ऋषि–मुनियों तथा भक्तों का निवास था। काफी अनुनय–विनय के बाद विश्वामित्र ने वशिष्ठ के अनुयायियों द्वारा किए गए आदर–सत्कार को स्वीकार कर लिया। बाद में वहां अद्भुत गाय देखकर विश्वामित्र आश्चर्य में पड़ गया और अचानक उसके मन में गाय लेने का लालच आ गया। वह गाय कोई साधारण गाय नहीं थी, बल्कि आश्रमवासियों को दूध के साथ सभी तरह का खाना देती थी। पहले तो वशिष्ठ ने कहा कि इस गाय के बदले में हमारों साधारण गायें दे सकते हैं। साथ ही उन्होंने अधिकारपूर्ण स्वर में यह भी कहा कि यह गाय तो एक अनमोल रत्न है और रत्न राजा की संपत्ति होती है। इसलिए उस पर राजा का ही अधिकार है। राजा विश्वामित्र द्वारा गायों की संख्या में वृद्धि करने पर भी वशिष्ठ ने अस्वीकार कर दिया। तब उसी गाय के बदले राजा ने और कीमत बढ़ाई। लेकिन वशिष्ठ को यह भी स्वीकार न थी। उसने स्पष्ट इंकार करते हुए कह दिया कि किसी भी कीमत पर वे उस गाय को नहीं देंगे। राजा को यह सब सुनकर क्रोध आना ही था। अतः राजा ने कृतघ्न और निर्दयी बनते हुए आगे बढ़कर गाय जबरन छीनी, लेकिन वह अद्भुत गाय राजा के सेवकों के हाथों से निकल कर अपने मालिक के पास भाग कर आ गई और उससे शिकायत की कि वह उसे छोड़ना चाहता है इस पर वशिष्ठ ने उत्तर दिया कि वह उसे छोड़ना नहीं चाहता, लेकिन विवश है क्योंकि राजा उससे कहीं अधिक शक्तिशाली है। तब गाय ने उत्तर दिया, 'मनुष्य क्षत्रिय को शक्तिशाली नहीं मानते। ब्राह्मण उनसे अधिक शक्तिशाली होते हैं, ब्राह्मणों के पास दैवी शक्ति होती है जो क्षत्रियों की शक्ति से श्रेष्ठ है। उनकी शक्ति नापी नहीं जा सकती। विश्वामित्र यद्यपि अत्यंत प्रतापी हैं, लेकिन आपसे अधाक शक्तिशाली नहीं है। आपकी शक्ति अजेय है। मुझे इजाजत दो, क्योंकि मेरे अंदर ब्राह्मणत्व से पूर्ण बल है। मैं इस दुष्ट राजा का अहंकार तथा शक्ति को नष्ट कर दूंगी।'

तब इस गाय ने अपनी गर्जनी से सैकड़ों पहलवानों को पैदा किया जो राजा विश्वामित्र की सारी सेना को नष्ट कर देते हैं। लेकिन बाद में विश्वामित्र ने उन सबको मार गिराया। इस स्थिति से निपटने के लिए उस गाय ने हथियारबंद शक और यवनों का निर्माण किया जो राजा की सेना को लील गए। परंतु अंत में उनका भी राजा ने नाश कर दिया। इसके बाद उस गाय ने अपने शरीर के अंगों से बहुत से योद्धाओं को उत्पन्न किया, जिन्होंने विश्वामित्र के पैदल सैनिकों, हाथी, घोड़े, रथ आदि को ध्वस्त कर दिया। क्रोध में आकर राजा विश्वामित्र के सैंकड़ों पुत्रों ने विभिन्न अस्त्र–शस्त्रों सहित वशिष्ठ पर हमला कर दिया। परंतु एक पल में ही वशिष्ठ ने उन्हें अपने मुंह की ज्वाला से जलाकर राख कर दिया। इस तरह पूर्ण रूप से पराजित हो जाने पर विश्वामित्र अपने एक पुत्र को साम्राज्य सौंप कर हिमालय की यात्रा पर चला गया, जहां उसने गहन तपस्या की और महादेव से दिव्य ज्ञान प्राप्त किया। महादेव ने उसकी तपस्या से प्रभावित होकर शस्त्रास्त्र विद्या का ज्ञान दिया। इससे विश्वामित्र घमंड से भर

उठा और उसने वशिष्ठ के आश्रम को ध्वस्त कर दिया और आश्रमवासियों को वहां से भाग जाने को विवश कर दिया। तब विश्वामित्र को धमकी देते हुए वशिष्ठ ने अपनी ब्राह्मण-शक्ति से युक्त गदा उठाई। विश्वामित्र ने भी अपने शस्त्र उठाते हुए विरोधी को सामने आने के लिए कहा। वशिष्ठ ने उसे अपनी शक्ति दिखाने को ललकारा और कहा कि वह अभी उसके घमंड को चूर-चूर कर देगा। उसने कहा : 'क्षत्रिय की सामर्थ्य और किसी महान ब्राह्मण की सामर्थ्य में कैसे तुलना हो सकती है? अरे देखो, नीच क्षत्रिय, मेरी दिव्य ब्राह्मण शक्ति'।

जैसे पानी से लिपटकर अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार उस गाधि के पुत्र विश्वामित्र का वह भयानक शस्त्र ब्राह्मण वशिष्ठ की गदा से नष्ट हो गया। इस प्रकार बाद में एक-एक कर विश्वामित्र ने अनेक तरह के अग्नि बाण, विष्णु का चक्र और शिव का त्रिशूल आदि वशिष्ठ की तरफ फेंके, पर वह सभी को अपनी गदा से नष्ट कर देता था। अंत में देवताओं को भी भयभीत करने वाला बह्मशस्त्र विश्वामित्र ने छोड़ा लेकिन वह भी उस ब्राह्मण ऋषि के सामने निष्फल हो गया। वशिष्ठ ने अन्यंत ही भयानक रूप धारण कर लिया। उसके शरीर के छिद्रों से धुएं के साथ अग्नि निकली। उसके हाथ में वह गदा धरती पर प्रचंड अग्नि के रूप में भड़की। उस समय वह यम का ही दूसरा रूप बन गया था। बाद में अनेक मुनियों के कहने पर वशिष्ठ ने मन में आई बदले की भावना का परित्याग कर दिया। जब विश्वामित्र ने कराहते हुए कहा: 'क्षत्रिय की शक्ति को धिक्कार है, ब्राह्मण का बल ही वास्तविक शक्ति है, एक अकेले ब्राह्मण की गदा ने उसके सारे शस्त्र नष्ट कर दिए।' अब कोई विकल्प नहीं बचा। या तो वह उस असहाय स्थिति से संतुष्ट रहे या फिर ब्राह्मण के उस शक्तिशाली पद तक पहुंचने के लिए प्रयास करे। लेकिन उसने दूसरे रास्ते को ही स्वीकार किया। अपनी इंद्रियों तथा मन पर नियंत्रण रखते हुए ब्राह्मण पद तक पहुंचने के उद्देश्य से घोर तपस्या करने के लिए वह अपने शत्रु से निरस्कृत और दुःखी होकर अपनी रानी के साथ दक्षिण की यात्रा पर चला गया। वहां जाकर उसने अपना संकल्प पूरा किया और उसके बाद हमें बताया गया कि उसने हवीशयनंद, मधुसियानंद और द्रिधनेत्र नाम के तीन पुत्र जन्मे। एक हजार साल के अंत में ब्रह्मा प्रकट हुआ और घोषणा की कि उसने स्वर्ग जीत लिया है और उसकी घोर तपस्या के फलस्वरूप राजर्षि का पद प्राप्त कर लिया है। अत्यंत दुःखी और लज्जित होकर विश्वामित्र कहते हैं - 'यद्यपि मैंने घोर तपस्या की फिर भी देवता और ऋषि मुझे केवल राजर्षि ही मानते हैं, ब्राह्मण नहीं।' इन्हीं व्यक्तियों अथवा इस नाम के विभिन्न व्यक्तियों का जो विवरण प्राप्त है, उस पर विवाद है, लेकिन उसका विषय भिन्न है।

इक्ष्वाकु के वंशजों में से एक राजा त्रिशंकु ने एक ऐसे यज्ञ-समारोह करने की योजना बनाई थी, जिसके द्वारा वह अपने शरीर के साथ सीधे स्वर्ग में जा सकता था। इस कार्य

हेतु वशिष्ठ को आमंत्रित किया गया। परंतु उसने इस कार्य को असंभव बतलाया। इस पर त्रिशंकु ने दक्षिण की यात्रा की, जहां वशिष्ठ के सौ पुत्र तपस्या कर रहे थे। उसने उनसे भी वही कार्य करने की प्रार्थना की, जिसे उनके पिता ने करने में इंकार कर दिया था। यद्यपि उसने उनको बहुत ही आदर तथा नम्रता के साथ संबोधित किया और यह भी कहा कि इक्ष्वाकु उन्हें अपना पारिवारिक पुरोहित तथ कठिन समय में सबसे बड़ा सहारा मानता था। वह स्वयं भी उन्हें अपना संरक्षक कुल देवता मानता है। इसके बावजूद भी इन पुरोहितों से उसे ऐसी फटकार मिली : 'अक्षम्य, मूर्ख, तुम्हें सत्य बोलने वाले हमारे गुरु ने इंकार किया है। तब उसके इंकार को न मानते हुए तुम दूसरी शाखा के पास कैसे जा सकते हो? कुल पुरोहित सभी इक्ष्वाकु लोगों के लिए एक श्रेष्ठ दैवी उपदेशक हैं और उस सत्यवादी व्यक्तित्व की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। उस दिव्य ऋषि ने घोषित किया कि यह संभव नहीं है। फिर हम ऐसा यज्ञ कैसे कर सकते हैं? तुम मूर्ख राजा हो। अच्छा यही है कि तुम वापस अपनी राजधानी लौट जाओ। तीनों संसार के पुरोहित वशिष्ठ का हम अनादर कैसे कर सकते हैं?' तब त्रिशंकु ने उन्हें समझाया कि अगर उसके गुरु तथा गुरु के पुत्रों ने उसकी यह प्रार्थना मानने से इंकार कर दिया, तब वह दूसरा रास्ता अपनाने के बारे में विचार कर सकता है। अपने इसी विचार को व्यक्त करने का परिणाम राजा त्रिशंकु को भुगतना पड़ा। उसे चांडाल बनने का शाप दे दिया गया। जैसे ही उस पर शाप का प्रभाव होने लगा, राजा का रूप एक पतित अछूत में बदलने लगा। तब यह विश्वामित्र के पास (जो उस समय दक्षिण में रहता था) अपने गुणों व ईश्वरीय भक्ति का वर्णन और अपनी दुर्दशा पर विलाप करते हुए सहायता के लिए दौड़ा। विश्वामित्र को उसकी यह अवस्था देखकर वास्तव में ही दया आई और चांडाल के ही रूप में उसे सीधे स्वर्ग भेजने का वचन दिया। उसने कहा, 'स्वर्ग अब तुम्हारे ही अधिकार में है क्योंकि तुम कुशिक के पुत्र की शरण में आए हो'' बाद में उसने यज्ञ की तैयारी करने तथा समारोह में वशिष्ठ के परिवार सहित सभी ऋषियों को आमंत्रित करने के आदेश दिए। विश्वामित्र के शिष्यों ने, जिन्होंने वशिष्ट के लोगों तक उसका यह संदेश पहुंचाया, वापस लौटकर बताया, 'आपका संदेश सुनने के बाद सभी देशों के ब्राह्मण यहां एकत्रित हो गए हैं, परंतु वशिष्ठ नहीं आए।' वशिष्ठ के सौ पुत्रों ने क्रोध में कांपते हुए हुआ था : 'देवता और ऋषि, चांडाल के यज्ञ को कैसे सम्पन्न कर सकते हैं? वह भी तब, जब उस यज्ञ का पुरोहित कोई क्षत्रिय हो। किसी चांडाल का अन्न खाकर तथा विश्वामित्र को यह सब जानकार बहुत क्रोध आया। उसने वशिष्ठ और उसके पुत्रों को जलकर राख होने और फिर उसे सौ जन्मों के लिए पतित नीचे और वशिष्ठ को निषाद के रूप में पुनर्जन्म लेने का शाप दिया। यह जानने पर कि शाप ने अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया विश्वामित्र ने त्रिशंकु की प्रशंसा करते हुए वहां एकत्रित ऋषियों को यज्ञ करने को कहा। विश्वमित्र के उस भायनक क्रोध के कारण दूसरे ऋषियों ने उसकी बात मान ली। विश्वामित्र ने यज्ञ में स्वयं यज्ञक का

कार्य किया और दूसरे ऋषियों को पुरोहित (ऋत्विज्ञ) बनाकर शेष सभी समारोह किए। बाद में विश्वामित्र ने देवताओं को समारोह में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया और देवता जब नहीं आए तो क्रोधित होकर विश्वामित्र ने यज्ञ का करछुल उठाकर त्रिशंकु को इस तरह संबोधित किया : 'हे सम्राट, यह शक्ति मैंने अपने प्रयास द्वारा घोर तपस्या करके प्राप्त की है। मैं अपनी शक्ति के बल पर तुन्हें स्वर्ग पहुंचाऊंगा। उस स्वर्गीय क्षेत्र में ऊपर जाओ जो किसी भी मृतलोक के मनुष्य के लिए अति कठिन है। मैंने निश्चित ही अपनी तपस्या से कुछ उपहार प्राप्त किए हैं।'

त्रिशंकु तत्काल सीधे स्वर्ग पहुंच गया और सभी मुनि देखते रह गए। लेकिन इंद्र ने उसे वापस लौट जाने का आदेश दिया, क्योंकि त्रिशंकु ऐसा मनुष्य था जो अपने धार्मिक गुरु के शाप से शापित था और इसीलिए स्वर्ग में रहने योग्य नहीं था। तब इंद्र ने उसे सीधा पृथ्वी पर सर के बल गिर जाने के लिए कहा। इस तरह से वह नीचे गिरने लगा। ऐसी स्थिति में उसने चिल्लाकर अपने धार्मिक संरक्षक से सहायता मांगी। विश्वामित्र ने गुस्से में उसे रुकने के लिए कहा। तब विश्वामित्र ने आकाश के दक्षिण भाग में अपने दिव्य ज्ञान की शक्ति तथा घोर तपस्या द्वारा एक दूसरे प्रजापति के समान सात ऋषियों की रचना की, यानी सात नक्षत्रों का नक्षत्र-मंडल बनाया। इस तरह से स्वर्ग के एक हिस्से में आगे बढ़ते हुए उस ऋषि ने अन्य नक्षत्रें के बीच तारों की एक माला की रचना की। उसने क्रोध से उत्तेजित होकर घोषणा की।, 'मैं एक अन्य इंद्र का निर्माण करूंगा या फिर संसार में कोई इंद्र ही नहीं होगा।'

क्रोध में उसने देवताओं को भी पुकरना शुरू किया। अब ऋषि, देवता और असुर, सभी ने सचेत होकर विश्वामित्र से समझौते के स्वर में कहा कि 'त्रिशंकु को क्योंकि उसके गुरु ने शाप दिया है, इसलिए जब तक कि वह शुद्ध न हो जाए, उसे शारीरिक रूप में प्रवेश न दिया जाए।' ऋषि ने उत्तर दिया कि उसने त्रिशंकु को वचन दिया है और उसने देवताओं से प्रार्थना की कि उसे उसके शरीर के साथ स्वर्ग में रहने की अनुमति दी जाए और उन नव-निर्मित तारों को भी आकाश में निरंतर अपने स्थान पर रहने की अनुमति दी जाए। देवताओं ने इस बात पर सहमति दी और कहा कि यह तारे अपने ही स्थान पर लेकिन सूर्य के मार्ग के बाहर रहेंगे। त्रिशंकु उनके बीच अपना सर झुकाते हुए प्रकाशित होता रहेगा, और अन्य तारे उसका अनुसरण करेंगे। इस तरह उसका लक्ष्य पूरा हो जाएगा, उसकी कीर्ति भी सुरक्षित रहेगी और वह अन्य लोगों के समान स्वर्ग का निवासी बन जाएगा।' इस प्रकार इस विवाद पर समझौता किया गया, जिसे विश्वामित्र ने स्वीकार किया।[1]

---

1. यह त्रिशंकु की कहानी है। यह भी देखा गया है कि यह *हरिवंश पुराण* में वर्णित कथा से भिन्न है, लेकिन कथा में वशिष्ठ और विश्वामित्र के बीच विवाद को स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है।

यज्ञ के समाप्त होने पर जब सभी देवता और ऋषि चले गए, तब विश्वामित्र ने अपने भक्तों से कहा, 'दक्षिण की यह घटना हमारी तपस्या में बाधा बन गई है। हमें किसी अन्य दिशा में जाकर तपस्या करनी चाहिए।' इस तरह वह पश्चिम में किसी जंगल में चला गया और वहां उसने अपनी तपस्या फिर से आरंभ की। यहां पर फिर से एक अन्य घटना से अवरोधा उत्पन्न होता है। यह कहानी राजा अंबरीष की है जो *रामायण* के अनुसार अयोध्या का राजा था। वह इक्ष्वाकु का 28वां और त्रिशंकु का 22वां वारिस था। विश्वामित्र को इन दोनों राजाओं का समकालीन माना गया है। इस कथा के आधार पर अंबरीष एक यज्ञ-समारोह में व्यस्त था। तब इंद्र उसकी बलि उठाकर ले गया। पुरोहितों ने कहा कि 'यह अशुभ घटना राजा के भ्रष्ट शासन के कारण हुई। इसके लिए कोई मानव-बलि देकर बड़ा प्रायशित कर लेना चाहिए।' एक लंबी खोज के बाद वह राजर्षि (अंबरीष) एक ब्राह्मण ऋषि ऋचिका के पास पहुंचा, जो भृग का वंशज था। उसके पुत्रों में से एक पुत्र की बलि देने के लिए (एक सौ हजार गायों की कीमत के बदले में बचने के लिए) कहा। ऋचिका ने उत्तर दिया - वह अपना ज्येष्ठ पुत्र नहीं बेच सकता; और उसकी पत्नी ने कहा - वह अपना कनिष्ठ पुत्र नहीं बेचेगी। उसने कहा कि ज्येष्ठ पुत्र पिता और कनिष्ठ पुत्र मां को प्रिय होता है। ऋचिका के दूसरे पुत्र सुनस्सेप ने कहा कि तब मैं अपने-आपको बेचने योग्य मानता हूं, और उसने राजा से कहा कि वह उसे ले जाए। उसके बदले में एक सौ हजार गाय तथा एक सौ लाख स्वर्ण मुद्राएं और रत्नों के अनेक भंडार के रूप में उसकी कीमत चुका कर राजा सुनस्सेप को अपने साथ ले गया। जब वे पुस्कर वन से गुजर रहे थे, सुनस्सेप की अपने मामा विश्वामित्र से भेंट हो गई, जो वहां अन्य ऋषियों के साथ तपस्या कर रहा था। सुनस्सेप उसकी गोद में जा गिरा और उसने अपने आपको अनाथ बताकर सहायता मांगी और कहा कि वह उसका आश्रय चाहता हैं। विश्वामित्र ने उसे शांत किया और उसके स्थान पर अपने पुत्रों को बलि बनने के लिए कहा। इस प्रस्ताव को मधुशानंद तथा उसके अन्य पुत्रों ने नहीं माना। उन्होंने उपहास के स्वर में कहा : 'वह अपने ही पुत्रों की बलि देकर दूसरों को कैसे बचाना चाहता हैं? वे इसे गलत माने हैं।' अपनी आज्ञा का अनादर होने के कारण ऋषि बहुत ही क्रोधित हो गए और उन्होंने वशिष्ठ के पुत्रों के समान अपने पुत्रों को भी सबसे पतित वर्णों में जन्म लेने और एक हजार वर्षों तक कुत्ते का मांस खाने का शाप दिया। तत्पश्चात् उसने सुनस्सेप से कहा : 'जब तुझे पवित्र धागे से लाल माला पहनाकर तथा तेलों का अभिलेप करके विष्णु के बलिदान के खंबे से बांधा दिया जाए, तब अग्नि की प्रार्थना करो और अंबरीष के यज्ञ में इन दो दैवी गाथाओं की स्तुति करो। तुम्हारी कामना की पूर्ति हो जाएगी।' उन गाथाओं को प्राप्त करने के बाद सुनस्सेप ने राजा अंबरीष को तत्काल अपने इष्ट प्रदेश पहुंचने का सुझाव दिया। बाद में लाल वस्त्र पहने हुए जब

उसे बलि के स्थान पर बांध दिया गया, तब उसने इंद्र और उसके छोटे भाई (विष्णु) की उन सर्वोत्तम गाथाओं द्वारा आराधना की। हजार नेत्र वाला इंद्र उसकी पवित्र गाथा सुनकर प्रसन्न हो गया और उसने सुनस्सेप की दीर्घायु कर दिया। राजा अंबरीष ने भी इस यज्ञ द्वारा बड़े लाभ प्राप्त किए। इस बीच, विश्वामित्र ने अपनी तपस्या जारी रखी तो एक हजार वर्ष तक चलती रही। तपस्या की समाप्ति पर देवता उसे वरदान देने के लिए आए; और ब्रह्मा ने उद्घोषणा की कि उसने ऋषि का पद प्राप्त किया है। इस प्रकार वह एक कदम और आगे हो गया। लेकिन इससे असंतुष्ट होकर मुनि ने अपनी तपस्या फिर से आरंभ की। कुछ समय बाद उसने मेनका को देखा, जो पुष्कर सरोवर में स्नान करने के लिए आई थी। मेनका अपूर्व सौंदर्य की जीती-जागती मूर्ति थी। उसने अपने आकर्षक रूप की चकाचौध से विश्वामित्र को विमोहित कर दिया। उसने आकर्षण की ज्वाला में दग्ध मुनि ने अपनी सहचरी बनने के लिए उसे कुटिया में बुलाया। इस तरह से दस वर्षो तब वह मेनका के मायाजाल में फंसा रहा, जो उसकी तपस्या के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इन दस वर्षों में उसे अपनी गलती का अहसास हुआ। उसे इस बात का भी पता चल गया कि यह सब षड्यंत्र उसकी तपस्या भंग करने के लिए था। अतः मेनका (अप्सरा) को विदा कर वह स्वयं भी उत्तर में पहाड़ों पर चला गया, जहां उसने एक हजार वर्षों तक कोसिकी नदी के किनारे घोर तपस्या की। उसकी तपस्या को देखकर देवता चिंतित हुए और उन्होंने निर्णय लिया कि उसे महान ऋषि (महर्षि) की उपाधि देकर सम्मानित किया जाए और ब्रह्मा ने सभी देवताओं के परामर्श को स्वीकार करते हुए बतलाया कि विश्वामित्र को महार्षि की पदवी प्रदान की गई है। विश्वामित्र ने हाथ जोड़ नतमस्तक होकर कहा कि 'यदि उसे ब्राह्मण-ऋषि की अपूर्व उपाधि प्रदान की जाए, तभी वह मानेगा कि उसने अपनी इंद्रियों पर संपूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया है। इस पर ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि अभी उसने अपनी इंद्रियों पर पूरी तरह से नियंत्रण की शक्ति प्राप्त नहीं की है। इसके लिए उसे और अधिक प्रयास करने चाहिए। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मुनि ने अपने आपको कठिन तपस्या में समर्पित कर दिया। तपस्या के दौरान उसने बहुत कष्ट सहे। उदाहरण के लिए अपने हाथों से बिना कोई सहारा लिए खड़ा रहने लगा तथा केवल हवा के सहारे ही जीवित रहने लगा। गर्मी, सर्दी और वर्षा की ऋतुओं तक ऐसा ही चलता रहा। अंत में इंद्र तथा अन्य देवता उसकी तपस्या के बढ़ते प्रभाव को देखकर व्याकुल हुए। उन सभी ने रूपसी रंभा को मुनि की तपस्या भंग करने के लिए कहा, लेकिन रभा ने उस उग्र मुनि के भंकर कोप का सामना करने में अपनी असमर्थता जताई। लेकिन इंद्र के बार-बार कहने पर उसके आदेश का पालन करने के लिए वह तैयार हो गई। इंद्र तथा कंदर्प (प्रेम के देवता) ने उसे वचन दिया कि वे उसकी रक्षा करेंगे। इस पर रंभा ने मुनि की तपस्या भंग करने के लिए अत्यंत आकर्षण रूप धारण किया, लेकिन मुनि

को रंभा की नीयत पर संदेह हो गया और क्रोधित होकर शाप दिया। शाप ने अपना प्रभाव दिखलाया। इंद्र और कंदर्प निराश हो गए। यद्यपि विश्वामित्र ने अपनी वासना पर नियंत्रण रखा, लेकिन क्रोध पर नियंत्रण न रख पाने के कारण उसकी तपस्या नष्ट हो गई। उसे वही तपस्या फिर से आरंभ करनी पड़ी। अब वह बिल्कुल शांत रहने लगा, अर्थात् वर्षों तक उसने श्वास तक लेना बंद कर दिया; तब उसने हिमालय को छोड़कर पूर्व की यात्रा की, जहां उसने एक भयानक प्रयोग किया और मौन धारण कर उसने एक हजार वर्षों तक तपस्या की। तपस्या के इतिहास में इस तरह का कोई दूसरा ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। हालांकि इस दौरान बहुत-सी कठिनाइयां उसके रास्ते में आई, पर वह क्रोध से जरा भी विचलित नहीं हुआ और अंत में अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल हुआ। तपस्या की अवधि की समाप्ति पर उसने खाने के लिए कुछ अन्न तैयार किया। इंद्र ने भिखारी के रूप में आकर भीख मांगी। विश्वामित्र को अपना भोजन देना पड़ा और उसे भूखे ही रहना पड़ा, क्योंकि उसने शांत रहने की प्रतिज्ञा की थी। 'चूंकि उसने श्वास न लेने की प्रक्रिया जारी रखी, उसके सिर से धुआं निकलने लगा, जिसके कारण तीनों संसार त्रस्त और भयभीत हो गए।' तब देवताओं और ऋषिओं ने कहा, 'इस महान मुनि विश्वामित्र को अनेक प्रकार से प्रलोभित तथा उत्तेजित करने के प्रयास किए गए, लेकिन इन सभी बाधाओं को पार करते हुए वह अपनी सिद्धि की ओर बढ़ता जा रहा है। इस बारे में यह भी कहना जरूरी है कि यदि उसकी इच्छा न मानी गई तो वह अपनी तपस्या के प्रभाव से तीनों लोक नष्ट कर सकता है। संपूर्ण सृष्टि त्रस्त है। कहीं पर भी कोई उजाले की किरण दिखाई नहीं दे रही। समुद्र डांवाडोल हो रहे हैं, पहाड़ चूर-चूर हो रहे हैं। धरती कांप रही है और हवा भ्रमित होकर बह रही है। हे ब्रह्मा! हमें वचन दो कि मानव सृष्टि नास्तिक नहीं बनेगी। .... इससे पूर्व कि उग्र स्वभाव का वह महान और कीर्तिमान ऋषि सब-कुछ नष्ट कर दे, हमें उसे प्रसन्न करना चाहिए। तब देवताओं ने ब्रह्मा के नेतृत्व में विश्वामित्र से प्रार्थना की : 'हे ब्राह्मण ऋषि, हम तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हैं। हे कुशिक, तुमने अपने धैर्य से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया है। हे ब्रह्मण, अपने मारुतों के साथ हम तुम्हें दीर्घायु प्रदान करते हैं। प्रत्येक आर्शीवाद तुम्हें प्राप्त हो, तुम जहां चाहे, जा सकते हो।' इससे प्रसन्न होकर विश्वामित्र ने देवताओं को प्रणाम किया और कहा : 'यदि मैंने ब्रह्मत्व प्राप्त कर लिया है, तब ओइम् और यज्ञ सूत्र तथा वेद मुझे इस योग्यता में मान्यता प्रदान करें और ब्राह्मण का पुत्र वशिष्ठ, जो कि छात्र विद्या तथा ब्रह्मण विद्या आदि सभी क्षेत्रों में पूर्ण रूप से निपुण माना जाता है, वह भी मुझे इसी प्रकार संबोधित करे।' तदनुसार देवताओं ने वशिष्ठ से प्रार्थना की और उसने विश्वामित्र के साथ समझौता कर लिया। साथ ही ब्राह्मण ऋषि के पद पर उसका अधिकार स्वीकृत कर लिया। ..... विश्वामित्र ने भी ब्राह्मण की श्रेणी प्राप्त करने के लिए वशिष्ठ का पूर्ण सम्मान किया।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच वर्ण-संघर्ष की दूसरी घटना क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों की हत्या से संबंधित है। यह कहानी महाभारत के आदिपर्व में वर्णित है, जो इस तरह से है :

कृतवीर्य नाम का एक राजा था, जिसकी दानशीलता के कारण वेदों के ज्ञाता राजा के पुरोहित भी थे और उसी कारण वे अपनी जीविका उपार्जन करते थे। उन्होंने इस बीच काफी अन्न और धन भी कमाया। जब राजा की मृत्यु हुई तब उसके वंशजों को धन की कमी हो गई और तब इसकी याचना के लिए वे भृगुओं के पास आए, क्योंकि वे उनकी संपत्ति के बारे में जानते थे। कुछ भृगु लोगों ने अपना धन जमीन के नीचे छिपाकर रखा था, जो कुछ ने इसे ब्राह्मणों को दान कर दिया, क्योंकि वे क्षत्रियों से डरते थे, जब कि कुछ लोगों ने उन्हें बिना कुछ दिए लौटा दिया। एक बार ऐसा भी हुआ कि एक क्षत्रिय को किसी भृगु के मकान की जमीन खोदते समय उसमें गड़ा धन मिल गया। तब सभी क्षत्रिय इकट्ठे हो गए और उन्होंने इस खजाने को देखा। इससे उन्हें गुस्सा आ गया। परिणामस्वरूप उन्होंने सभी भृगुओं की उनकी गर्भवती स्त्रियों सहित हत्या कर दी। बाद में उनकी विधवाएं हिमालय पर्वत की ओर पलायन कर गईं। उनमें से एक विधवा ने अपने अजन्मे बच्चे को अपनी जांघ में छिपा लिया। क्षत्रियों को जब किसी ब्राह्मणी से उसके जीवित रहने की खबर मिली, जब उन्होंने उसकी हत्या करनी चाही। लेकिन वह बच्चा अपनी मां की जांघ से बाहर निकला और उसने अपने हत्यारों को अंधा बना दिया। कुछ दिनों तक इसी प्रकार पहाड़ों में भटकते रहने के बाद उन्होंने उसी बच्चे की मां से उन्हें दृष्टि प्रदान करने की प्रार्थना की। परंतु उसने उन लोगों को उस चमत्कारिक बालक उर्व के पास भेजा, जिसमें संपूर्ण वेदों ने अपने छह उपायों के साथ प्रवेश किया था। उसी बालक ने अपने रिश्तेदारों की हत्या के बदले में उनकी दृष्टि छीन ली थी; और वे जब उसकी शरण में गए तो उनके दृष्टि वापस मिल गई। तथापि उर्व ने भृगु लोगों की हत्या के बदले में सभी प्राणियों को नष्ट करने की साधना की और तपस्या करते-करते ऐसी स्थिति में पहुंच गया कि उसके कारण देवता-असुर, दोनों और मनुष्य भी घबरा गए। लेकिन उसके पूर्वज (पितृ) स्वयं प्रकट हुए और उसे इस कार्य से विमुख करने के उद्देश्य से कहा कि वे 'क्षत्रियों से उनकी हत्या का बदला नहीं लेना चाहते हैं श्रद्धावान भृगु असुरक्षित होने के कारण हिंसक वृत्ति के क्षत्रियों की हत्याओं की क्षमा नहीं करना चाहते। जब हम वृद्धावस्था से दुखी हो जाएंगे तब हम स्वयं ही उनके द्वारा अपनी हत्या की कामना करेंगे। जिसने भृगु के घर जमीन में धन दबा दिया था, स्वर्ण-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले हम लोगों को धन से क्या लेना-देना?' उन्होंने यह उपाय इसलिए किया कि वे आत्महत्या के दोषी नहीं बनना चाहते

थे। उन्होंने उर्व से कहा कि वह अपने क्रोध पर नियंत्रण रखे और जो पापपूर्ण कार्य वह कर रहा है, उससे दूर रहे। 'हे पुत्र! तुम क्षत्रियों और इन सातों लोकों का नाश मत करो। अपने क्रोध को नियंत्रित करो, क्योंकि वह तपस्या की साधना को नष्ट कर देता है।' लेकिन उर्व ने उन्हें उत्तर दिया कि वह अपने निश्चय पर अमल किए बिना नहीं रुक सकता। उसने कहा कि उसके क्रोध का अगर किसी दूसरी वस्तु पर आघात नहीं होगा तो वह स्वयं उसी को नष्ट का देगा। उसने तर्क देते हुए कहा कि उसके पूर्वजों ने क्षत्रियों के साथ जिस नम्रता का व्यवहार करने का परामर्श दिया है, वह न्याय, औचित्य तथा कर्तव्य के आधार पर भी गलत है; तथापि पितरों ने उसे अपने क्रोध की अग्नि समुद्र में फेंक देने के लिए मना किया जहां, उन्होंने कहा, वह जल-तत्वों पर प्रहार करेगी, और इस प्रकार उसकी धमकी पूरी हो जाएगी।

तीसरी घटना ब्राह्मनों द्वारा क्षत्रियों के नर-संहार से संबंधित है। *महाभारत* में अनेक स्थानों पर इस कथा को दोहराया गया है।

सहस्त्रबाहु महाप्रतापी एवं शक्तिमान कार्त्तवीर्य यानी अर्जुन इस संपूर्ण संसार का सम्राट था। वह महिषमति का निवासी था। अपार शक्ति का यह हैहय राजा महासागरों तथा महाद्वापों सहित सपूंर्ण विश्व पर राज्य करता था। युद्ध भूमि पर लड़ने और संपूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने के लिए उसने हजार हाथों से लड़ने का वरदान दत्तात्रेय मुनि से प्राप्त किया था तथा पथभ्रष्ट होने की संभावना में सदाचारी लोगों के उपदेश और वचनों का आशीर्वाद उसे प्राप्त था। तत्पश्चात् अपने सूर्य जैसे तेजस्वी रथ पर सवारी करते हुए अपने गर्व के नशे में चूर होकर उसने कहा, 'धैर्य, साहस, कीर्ति, पराक्रम, गुण और शक्ति में मेरे समान कौन है?' उसकी चुनौती के उत्तर में आकाश में एक निराकरा आवाज गूंज उठी, जिसने उससे कहा – 'हे मूर्ख! तुम नहीं जानते कि ब्राह्मण क्षत्रिय से उत्तम होता है और ब्राह्मण की सहायता से ही क्षत्रिय अपनी प्रजा पर शासन करता है।'

तब अर्जुन ने उत्तर दिया, 'यदि मैं चाहूं तो प्राणी मात्र का निर्माण कर सकता हूं अथवा न चाहूं तो समस्त प्राणियों को मिटा सकता हूं। कोई भी ब्राह्मण किसी कार्य या विचार अथवा धारणा में मुझसे श्रेष्ठ नहीं हो सकता। तुम्हारा कहना है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ है, और मेरा दूसरा प्रस्ताव है कि क्षत्रिय श्रेष्ठ है; दोनों का आधार यहां स्पष्ट हुआ है, परंतु भेद की बात यह भी है कि ब्राह्मण क्षत्रिय पर निर्भर होते हैं, न कि क्षत्रिय ब्राह्मण पर। ब्राह्मण के लिए वेद मात्र एक मूल बहाना है। न्याय, रक्षा के लिए वे क्षत्रिय के अधीन है। ब्राह्मण अपनी जीविका उनसे ही प्राप्त करते हैं तब, ब्राह्मण उनसे श्रेष्ठ कैसे हो सकते हैं? मैं स्वयं उन सर्व प्रमुख ब्राह्मणों को अपने अधीन रखता हूं, जो दक्षिणा पर जीवित रहते हैं और अपने आपको बहुत श्रेष्ठ मानते हैं। क्योंकि

स्वर्ग में निवास करने वाली गायत्री देवी ने सत्य का ही उद्घाटन किया है, इसलिए मैं उन सभी अनाधीन रहने वाले ब्राह्मणों को अपने अधीन करके रहूंगा। इन तीनों लोगों में कोई भी मनुष्य अथवा देवता मुझे राजा के पद से हटा नहीं सकता। इसलिए मैं हर ब्राह्मण से श्रेष्ठ हूं। तो अब क्या मैं इस संसार को, जहां ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, ऐसे विश्व में बदल दूं, जहां क्षत्रिय श्रेष्ठ हो सकें, क्योंकि युद्ध में मेरा मुकाबला करने का किसी को साहस नहीं है।' अर्जुन का यह कथन सुनकर रात्रि के समय भ्रमण करने वाली यह देवी भयभीत हो गई तब हवा में विचारण करने वाले वायु देवता ने अर्जुन से कहा : 'इस पापयुक्त विचार का त्याग करो और ब्राह्मणों का अभिवादन करो। यदि तुमने उनके साथ कोई दुर्व्यवहार किया तो तुम्हारा साम्राज्य अस्थिर हो उठेगा। तब तुम देश से बाहर कर दिए जाओगे।' राजा ने पूछा, 'तुम कौन हो,' मैं देवताओं का दूत वायु हूं और तुम्हें तुम्हारे हित की बातें बताने आया हूं। अर्जुन ने प्रत्युत्तर में कहा : 'हे देवता! तुम आज ब्राह्मणों के प्रति बहुत अधिक भक्ति भाव दिखा रहे हो। लेकिन यह क्यों नहीं करते कि ब्राह्मण भी पृथ्वी पर जन्मे किसी अन्य प्राणी के समान ही हैं।'

आगे चलकर राजा, जमदग्नि ऋषि के पुत्र परशुराम के साथ एक विवाद में पड़ गया जो इस तरह है :

कान्यकुब्ज का एक राजा था, जिसे गाधि नाम से जाना जाता था उसकी सत्यवती नाम की एक पुत्री थी। इस राजकुमारी का ऋचीक ऋषि के साथ विवाह और जमदग्नि के जन्म की कहानी ऊपर वर्णित कहानी के समान ही है। जमदग्नि और रेणुका के पांच पुत्र थे, जिनके सबसे छोटा दुर्जेय परशुराम था। उसने एक बार अपने पिता के आदेश पर अपनी मां की हत्या कर दी (जिसने अनैतिक इच्छा के मोह से अपनी पूर्व पवित्रता खो दी थी) क्योंकि जमदग्नि के चार बड़े पुत्रों ने मातृहत्या करने से मना कर दिया था और पिता के शाप से उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, लेकिन परशुराम की इच्छा से उसके पिता ने उसकी मांग को पुनः जीवनदान दिया और उसके भाइयों को भी सदबुद्धि प्रदान की तथा स्वयं उसे हत्या के अपराध से मुक्त कर दिया जाता है। परशुराम अपने पिता से अजयेता तथा दीर्घायु का वर भी प्राप्त करता है राजा अर्जुन (या कार्त्तवीर्य) के साथ उसके संबंध का वर्णन है। एक बार राजा अर्जुन जमदग्नि के आश्रम में आया और उसका जमदग्नि की पत्नी के आदर के साथ स्वागत किया। लेकिन राजा ने ऋषि के यज्ञ की गाय का बछड़ा जबरन छीनकर और यज्ञ समारोह के वृक्ष तोड़कर आदर-सत्कार को भंग कर दिया। इस विनाश का समाचार सुनकर परशुराम बहुत ही क्रोधित हो गया। उसने अर्जुन पर आक्रमण करके उसकी हजार भुजाएं काटीं। फिर उसकी हत्या कर डाली। इसके बदले में अर्जुन के पुत्रों ने शांत स्वभाव वाले ऋषि जमदग्नि की परशुराम की अनुपस्थिति में हत्या कर दी।

वापस लौटने पर अपने पिता का अंतिम संस्कार करने के लिए परशुराम ने संपूर्ण क्षत्रिय वंश को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की और सबसे पहले अर्जुन के पुत्र और उनकी साथियों की हत्या करके उस प्रतिज्ञा का पालन किया। उसने इक्कीस बार समस्त क्षत्रियों को पृथ्वी से समूल नष्ट किया, और उनके खुन से सामंतपंचक में पांच सरोवर बनवाए, जिसमें उसने भृगुओं के पितरों की आत्माओं को संतुष्ट किया और अपने नाना ऋचिका के समक्ष जाकर खड़ा हो गया। तब ऋचिका ने उसे उपदेश दिया। परशुराम ने एक विशाल यज्ञ करके इंद्र को प्रसन्न किया और यज्ञ करने वाले पुरोहितों को पृथ्वी दान दी। उसने महाबली कश्यप ऋषि को साठ फुट लंबा और चौवन फंट ऊंचा सोने का सिंहासन दान में दिया। इस सिंहासन को ब्राह्मणें ने आपस में बांट लिया, जिसे उसका खंडववन नाम पड़ गया। इस प्रकार, कश्यप को पृथ्वी दान करके, परशुराम स्वयं महेन्द्र पर्वत पर रहने के लिए चला गया। इस तरह उसमें और क्षत्रियों के बीच में शत्रुता उत्पन्न हुई, और परशुराम ने अपनी असीमित शक्ति से पृथ्वी जीत ली।'

जिन क्षत्रियों की परशुराम द्वारा हत्या की गई, उनका वर्णन *महाभारत* के द्रोण पर्व में है। वे काश्मीर, दार्द कुंती, शुद्रक, मालव, अंग, वंग, कलिंग, विदेह, ताम्रलिप्तक मर्त्तिकावत, सीवी आदि राजन्य थे।

क्षत्रिय वंश का पुनर्निर्माण किस प्रकार किया गया, यह बात भी ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों के नरसंहार की इस कहानी में बताई है, कहा जाता है :

पृथ्वी पर रहने वाले सभी क्षत्रियों को इक्कीस बार नष्ट करने के बाद, जमदग्नि का यह पुत्र (परशुराम) सभी पर्वतों में सर्वोत्तम महेंद्र पर्वत पर तपस्या करने में व्यस्त हो गया। क्षत्रियों की विधवाएं संतति की इच्छा से ब्राह्मणों के पास आईं। तब ब्राह्मणों ने काम–वासना की किसी भी लालसा से मुक्त होकर उचित ऋतु में इन स्त्रियों के साथ संभोग किया। बाद में वे गर्भवती हो गईं। उनसे वंश को चलाने के लिए शूरवान क्षत्रिय लड़के–लड़कियां उत्पन्न हुए। इस प्रकार ब्राह्मणों ने अपने सदाचार से क्षत्रिय स्त्रियों से क्षत्रिय वंश का सिलसिला आगे बढ़ाया जिनकी बाद में संख्या बड़ी और वे अनेक वर्षों तक जीवित रहे। इसके बाद ही ब्राह्मणों से कम श्रेष्ठता वाले चार वर्ण उत्पन्न हुए।

भारत के अलावा किसी भी अन्य देश में वर्ग–संघर्ष का ऐसा दुखांत इतिहास नहीं मिलता। यह ब्राह्मण परशुराम का झूठा दंभ ही है कि उसने क्षत्रियों की पुनर्सृष्टि की।

हमें ऐसा नहीं मानना चाहिए कि भारत के वर्ग–संघर्ष का यह इतिहास प्राचीन है, बल्कि यह वर्ग–संघर्ष निरंतर जारी है। इस वर्ग–संघर्ष का हम महाराष्ट्र में मराठा शासन के समय में भी देख सकते हैं, जिसके कारण मराठा साम्राज्य नष्ट हो गया। हमें यह भी नहीं मानना चाहिए कि यह वर्ग–युद्ध के समान ही होते थे। भारत में वर्ग–संघर्ष का एक स्थायी स्वभाव रहा है, जो चुपचाप किन्तु निश्चित रूप से अपना कार्य करता था।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यह वास्तविक घटनाएं इस अर्थ में सांकेतिक हैं कि वे उनकी प्रकृति तथा चरित्र की ओर इंगित करती हैं। क्या इसी बात से कहा जा सकता है कि हिंदुओं में बंधुभाव है? इन घटनाओं को देखते हुए इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर संभव नहीं।

हिंदू समाज में बंधुभाव के अभाव का क्या स्पष्टीकरण दिया जा सकता है? हिंदू धर्म और उसका दर्शन ही इस बात के लिए जिम्मेदार है। जैसा कि मिल ने कहा है, बंधुभाव की भावना स्वाभाविक होती है। लेकिन यह एक ऐसा पौधा है कि जो अनुकूल जमीन है ही तथा जहां उसके विकास के लिए उचित परिस्थितियां मौजूद होती हैं, बढ़ सकता है। बंधुभाव की भावना को बढ़ाने के लिए केवल यह उपदेश करने की आवश्यकता नहीं कि हम सभी ईश्वर की संतान हैं अथवा हम सब एक दूसरे पर निर्भर हैं यह मौलिक आवश्यकता नहीं है। किसी भावना के विकास के लिए यह एक बहुत ही बौद्धिक तर्क हो सकता है। बंधुभाव की इस भावना को बढ़ावा देने के लिए जीवन की सभी सजीव प्रक्रियाओं में सहभागी बनना आवश्यक है। जन्म, मृत्यु, विवाह तथा भोजन आदि के सुख-दुख में हिस्सेदार बनने से बंधुत्व की भावना बढ़ती है अत: जो इन प्रक्रियाओं में भाग लेते हैं, वे एक दूसरे को भाई के समान मानते हैं।

प्रो. स्मिथ ने सहभोज के महत्व पर उचित जोर देते हुए समाज में बंधुभाव के निर्माण में इसे एक अत्यंत आवश्यक तत्व माना है। वे कहते हैं :

> यज्ञ समारोह में आयोजित सहभोज प्राचीन धार्मिक जीवन के आदर्श को व्यक्त करने का एक उचित माध्यम है। ऐसा केवल इसलिए नहीं है कि वह एक सामाजिक कर्म है और उसमें देवता तथा उनके उपासक, दोनों न केवल एक साथ भाग लेते हैं बल्कि, जैसा पहले बताया गया है, किसी मनुष्य के साथ मिल-बैठकर खान-पान करना इसके साथ भाईचारा व्यक्त करने तथा परस्पर सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने का भी प्रतीक है। यज्ञ-समारोह में आयोजित सहभोज में एक बात सीधी व्यक्त होती है कि देवता तथा उसके उपासक, दोनों एक ही पंक्ति में साथ-साथ भोजन करते हैं। लेकिन इसके अलावा उनमें उन सभी बातों का समावेश होता है जो उनके परस्पर संबंधों को व्यक्त करती है। जो लोग भोजन के लिए एक-साथ बैठते हैं, वे लोग सभी सामाजिक कार्यों के लिए एकजुट होते हैं। जो लोग सहभोज नहीं कर सकते, वे एक-दूसरे के लिए पराये होते हैं। न उनमें धार्मिक एकता होती है और न परस्पर सामाजिक कर्तव्य।[1]

---

1. *दि रिलीजन आफ सैमाइट्स*, पृ. 269

जीवन के महत्वपूर्ण अवसरों पर भी हिंदूओं में सुख-दुख को बांटने की भावना नहीं है हर चीज अलग-अलग और विशिष्ट है। हिंदू अलग है, और जीवनपर्यन्त विशिष्ट बना रहता है। भारत में आने वाले विदेशी को 'हिंदू पानी', 'मुसलमान पानी' की ही पुकार नहीं सुनाई देती। जो ब्राह्मण काफी हाउस, ब्राह्मण भोजनालय – जहां अब्राह्मण हिंदू नहीं जा सकते, ब्राह्मण प्रसुति गृह, मराठा प्रसूति गृह, और भाटिया प्रसूति गृह आदि मिलते हैं, हालांकि ब्राह्मण, मराठा और भाटिया सभी हिंदू हैं यदि किसी ब्राह्मण के घर में बच्चे का जन्म होता है; तब अब्राह्मण को नहीं बुलाया जाता है औन न ही उसे वहां जाने की इच्छा होगी। यदि ब्राह्मण परिवार में विवाह हो, तब भी गैर-ब्राह्मण को निमंत्रण पत्र नहीं भेजा जाता और तो और, ब्राह्मण की मृत्यु हो जाने पर उसकी शव-यात्रा में कोई भी अब्राह्मण सम्मिलित होने का अधिकारी नहीं है। इस तरह से एक जाति से सुख-दुख दूसरी जाति के सुख-दुख नहीं होते। एक जाति को दूसरी जाति के प्रति लगाव नहीं होता। इतना ही नहीं, दान-धर्म भी जाति तक ही सीमित होता है। हिंदुओं में ऐसी कोई सार्वजनिक दान-धर्म की प्रथा नहीं है, जो सबके लिए मुक्त हों आप ब्राह्मणों के लिए ब्राह्मण धर्मदान संस्था पाएंगे और इसमें भी चित्तपावन ब्राह्मणों के लिए चित्तपावन ब्राह्मण धर्मदान संस्था, देशस्थ ब्राह्मनों के लिए देशस्थ ब्राह्मण धर्मदान संस्था। करहाड़े ब्राह्मणों के लिए करहाड़ ब्राह्मण संस्था, जो सारस्वत ब्राह्मणों में भी कुंडलेश्वर ब्राह्मण धर्मदान संस्था आदि। इस प्रकार एक हिंदू दूसरे हिंदू के साथ जीवित रहते हुए भी कोई वस्तु आपस में नहीं बांटता। बात यहीं तक नहीं जब वे मर जाते हैं, तब भी वे अलग और पृथक ही रहते है। कुछ हिंदू अपने मृतकों को दफनाते हैं, तो कुछ हिंदू उन्हें जलाते हैं। लेकिन जो लोग दफनाते हैं, उनकी श्मशान भूमि एक नहीं होती। प्रत्येक का श्मशान भूमि में अपने मृतकों को दफनाने का अलग-अलग क्षेत्र होता है जो लोग जलाते हैं, वे एक ही स्थान पर अपने मृतकों को नहीं जलाते। यदि वे ऐसा करते भी हैं तो भी चबूतरा अलग बनाया जाता है।

तब इस बात में क्या कोई आश्चर्य है कि हिंदुओं के लिए बंधुभाव की भावना क्यों पराई है? जीवन के सुख-दुख को आपस में बांटने पर जहां पूर्ण मनाही हो, वहां बंधुभाव की भावना कैसे पनप सकती है?

लेकिन इन सभी सवालों में सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है कि हिंदु लोग जीवन के सुख-दुख आपस में बांटने से क्यों इंकार करते हैं? यहां यह बताना, आवश्यक नहीं है कि वे इन्हें बांटने से इसलिए इंकार करते हैं, क्योंकि उनका धर्म उन्हें ऐसा ही करने के लिए कहता है। हिंदू धर्म शिक्षा देता है सहभोज न करने की, अंतर्विवाह न करने की, और परस्पर संबंध न रखने की। यह नहीं करना, वह नहीं करना, यहीं हिंदू धर्म के उपदेश का सार है। सभी लज्जित करने वाली बातें जो मैंने यहां बताई हैं, हिंदू समाज की अलग और पृथक प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है, जो हिंदु धर्म के दर्शन

की देन है। यही दर्शन बंधुभाव को पूरी तरह नकारता है।

न्याय की दृष्टि से हिंदुत्व के दर्शन का किया गया यह संक्षिप्त विश्लेषण सिद्ध करता है कि हिंदू धर्म समानता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का विरोधी है।

बंधुत्व और स्वतंत्रता, यह दोनों तत्व सही मायने में धारणाएं हैं। मौलिक तथा बुनियादी तत्व हैं समानता और मानव व्यक्तित्व के प्रति आदर। बंधुभाव तथा स्वतंत्रता, यह दोनों धारणाएं इन मूल तत्वों से ही आगे बढ़ती हैं। इस बात को हम ऐसे भी कह सकते हैं कि समानता मूल धारणा और मानव व्यक्तित्व के प्रति आदर है। तब जहां समानता को नकारा गया है, तब यह मानना चाहिए कि अन्य सभी बातों को भी नकारा गया है। दूसरे शब्दों में, यह बात दर्शाना मेरे लिए पर्याप्त है कि हिंदुत्व में समानता नहीं थी लेकिन जिस प्रकार से मैंने हिंदुत्व का परीक्षण किया वैसा पहले नहीं किया गया था, और तब मैंने सोचा कि हिंदुत्व बंधुत्व और स्वतंत्रता, दोनों से वंचित रखने वाला है, यह कहना ही पर्याप्त नहीं है।

लार्ड एक्टन की महत्वपूर्ण धारणा के परीक्षण के साथ में अपनी चर्चा समाप्त करना चाहूंगा। महान लार्ड महोदय कहते हैं कि असमानता की बढ़ोतरी ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण होती है। धर्म के स्वीकृत मत के रूप में इस पर कभी पालन नहीं किया गया। यह स्पष्ट है कि अपना यह मत बनाते समय लार्ड एक्टन ने हिंदू धर्म की और ध्यान नहीं दिया, क्योंकि हिंदु धर्म में असमानता एक स्वीकृत धार्मिक सिद्धांत हैं और उसे जान-बूझकर एक पवित्र धर्म मत के रूप में प्रचारित किया जाता है वह एक अधिकृत धार्मिक तत्व है और कोई भी सरेआम उसका पालन करने में लज्जा अनुभव नहीं करता। हिंदू समाज की दृष्टि से असमानता धार्मिक सिद्धांत के रूप में जीवन का एक धर्म-सम्मत विधान है और एक निश्चित मत के रूप में निरंतर इसकी शिक्षा दी गई है। यह एक अधिकृत मत है। वस्तुतः असमानता हिंदू धर्म की आत्मा है।

अब मैं उपयोगिता के दृष्टिकोण से हिंदू धर्म के दर्शन का परीक्षण करना चाहूंगा।

हिंदू धर्म का इस पहलू से परीक्षण बहुत दीर्घ तथा विस्तार से करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जैसा प्रो. मिल ने निर्देशित किया है, न्याय तथा उपयोगिता में आपसी शत्रुता आवश्यक नहीं है। दूसरे शब्दों में जो बात एक व्यक्ति के लिए अन्याय है, वह समाज के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसके अलावा हमारे सामने जातिप्रथा के परिणाम भी हैं, जिनसे हम अपरिचित नहीं हैं।

जाति का सिद्धांत एक सिद्धांत नहीं है। इस सिद्धांत को व्यवहार में ढाला गया, इसलिए वह एक वास्तविकता है। इसके कारण हिंदू समाज ने चातुर्वेर्ण्य के संबंध में जर्मन दार्शनिक नीत्शे का सही अनुसरण किया है, जिसने कहा है कि 'आदर्श को अनुभव करो और वास्तविकता को आदर्श में ढाल दो।'

किसी भी सिद्धांत का मूल्य उसके नतीजों से परखना चाहिए। इसलिए, यदि अनुभव को एक कसौटी मानना है, तब चातुर्वर्ण्य का तिरस्कार जरूरी है। एक शुद्ध सामाजिक संगठन के रूप में भी यह तिरस्कार है उत्पादकों के संगठन के रूप में भी उसका तिरस्कार किया जाना चाहिए। बंटवारे की एक आदर्श योजना के रूप में भी वह बुरी तरह से असफल हो गया है। यदि संगठन का यह एक आदर्श रूप है, तब हिंदु धर्म एक समान मंच क्यों नहीं बना सका? यदि उसे उत्पादन का एक आदर्श नमूना माना जाए, तब यह कैसे है कि उत्पादन की उसकी तकनीक आदिमानव की तकनीक से अधिक विकसित नहीं हो सकी और यदि इसे बंटवारे की एक आदर्श योजना माना जाए, तब इसके कारण धन की इतनी अधिक असमानता कैसे उत्पन्न हो गई, जहां एक ओर असीमित संपत्ति है तो दूसरी ओर असीमित गरीबी।

परंतु मैं इस विषय को इतने संक्षेप रूप में कहकर छोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि मैं जानता हूं कि ऐसे अनेक हिंदु जन है, जो जाति-व्यवस्था की महान सामाजिक उपयोगिता का दावा करते हैं, और ऐसी व्यवस्था के न केवल निर्माण, बल्कि उसे दैवी मान्यता प्रदान करने के लिए मनु की बुद्धिमानी तथा विवेक की प्रशंसा करते हैं। जाति व्यवस्था के प्रति ऐसा दृष्टिकोण इसलिए बना, क्योंकि जाति के अलग-अलग पहलुओं पर अलग-अलग विचार किया गया।

जाति की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के परिणाम को तभी निश्चित किया जा सकता है, जब जाति के विभिन्न पक्षों को संयुक्त कर उन पर विचार किया जाए। समस्या का इस दृष्टिकोण से विचार करने पर निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

(1) जाति से श्रमिकों का विभाजन होता है, (2) जाति के कारण मनुष्य की उसके कार्य के प्रति रूचि नहीं रहती, (3) जाति के कारण बुद्धि का शारीरिक श्रम से संबंध नहीं रहता, (4) जाति मनुष्य की प्रमुख रुचि को विकसित करने के उसके अधिकार को नकारती है, जिसके कारण वह निर्जीव बनता है, और (5) जाति स्थान परिवर्तन पर प्रतिबंध लगाती है।

जाति व्यवस्था केवल श्रम का विभाजन नहीं है निस्संदेह सभ्य समाज में श्रम का विभाजन आवश्यक होता है। लेकिन किसी भी सभ्य समाज में श्रम-विभाजन के साथ श्रमिकों को अपरिवर्तनीय अप्राकृतिक विभाजन नहीं किया जाता। जाति-व्यवस्था केवल श्रमिकों का विभाजन करने वाली व्यवस्था नहीं है जो कि श्रम के विभाजन से सर्वथा भिन्न है, बल्कि वह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों में विभाजन की श्रेणी एक दूसरे को ऊपर निर्धारित की गई है। किसी भी देश में श्रम के विभाजन के साथ-साथ श्रमिकों का इस प्रकार अलग-अलग श्रेणियों में विभाजन नहीं किया गया है। जाति-व्यवस्था के इस पहलू के संबंध में आलोचना करने का एक तीसरा

दृष्टिकोण भी है। श्रम का यह विभाजन अपने आप नहीं हो गया, और न ही यह किसी स्वाभाविक योग्यता पर आधारित है। सामाजिक तथा निजी कार्यक्षमता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि किसी भी व्यक्ति की योग्यता को निपुण बनाए, जिससे वह अपने जीवन-व्यवसाय का चयन कर सके और उसे सुदृढ़ बना सके। जाति व्यवस्था में इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है, क्योंकि इसमें किसी भी व्यक्ति का कार्य उसके जन्म से पहले ही तय हो जाता है; उसका चुनाव उसकी मौलिक योग्यता के आधार पर नहीं, किन्तु उसके माता-पिता के सामाजिक स्तर पर आधारित होता है। एक अन्य दृष्टिकोण से देखें तो व्यवसायों के क्रमिक वर्गीकरण की व्यवस्था, जो कि जाति व्यवस्था का सीधा परिणाम है, निश्चय ही हानिकारक है। उद्योग कभी भी स्थिर नहीं रहते। उनमें तीव्र तथा आकस्मिक परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के साथ-साथ व्यक्ति को भी अपने व्यवसायों में परिवर्तन की अनुमति होनी चाहिए। बदलाव की स्थिति में अगर उसे अपने-आपको बदलने की अनुमति नहीं दी जाएगी तो उसके लिए अपनी आजीविका प्राप्त करना असंभव हो जाएगा। परंतु जाति-व्यवस्था हिंदू जनों को ऐसे व्यवसाय करने की अनुमति नहीं देती जो वंश-परंपरा के अनुसार उनके अपने व्यवसाय न हों। यदि किसी हिंदू को हम कोई ऐसा नया व्यवसाय, जो उसकी जाति के लिए निर्धारित नहीं है, अपनाने के बजाए भूखा मरते हुए देखते हैं, जो उसकी कारण जाति-व्यवस्था में ही मिलती है। व्यवसायों में परिवर्तन करने की अनुमति न देने से जाति-व्यवस्था देश की वर्तमान बेरोजगारी के लिए सीधी जिम्मेदार बन गई। श्रम विभाजन को लेकर जाति-व्यवस्था में और भी एक गंभीर दोष है। जाति-व्यवस्था ने श्रम का जो विभाजन किया है, वह चयन के अधिकार पर आधारित नहीं है। उसमें किसी प्रकार की व्यक्तिगत भावना तथा पसंद-नापसंद का कोई स्थान नहीं है। वह पूर्ण रूप से भाग्य के सिद्धांत पर आधाारित है। सामाजिक दक्षता पर विचार करने पर हम इस बात को स्वीकार करने के लिए बाध्य होंगे कि किसी भी औद्योगिक व्यवस्था में गरीबी और दुख इतनी बड़ी बुराई नहीं है, जितना कि यह वास्तविकता कि बहुत से लोगों को ऐसे व्यवसाय करने के लिए मजबूर किया जाता है जिनमें उनकी कोई रुचि नहीं होती। ऐसे व्यवसाय उनमें निरंतर घृणा, हीनभावना और कार्य से दूर भागने की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। भारत में ऐसे अनेक व्यवसाय हैं, जिन्हें हिंदू लोग हीन स्तर के व्यवसाय मानते हैं और जिसके कारण ऐसी व्यवसाय करने वालों के प्रति घृणा के लिए उकसाते हैं। ऐसे व्यवसायें को टालने की, और उनसे बचने की निरंतर इच्छा उत्पन्न होती रहती है। उसका मुख्य कारण यह है कि जो लोग इन व्यवसायों का अनुसरण करते हैं, उनकी हिंदू धर्म के द्वारा जो उपेक्षा होती है और उन पर ऐसे कार्यों को जिस प्रकार थोपा जाता है, उससे उनके मन में विफलता की भावनाा उत्पन्न होती है।

जाति व्यवस्था ने जो दूसरी हानि की है, वह यह है कि उसने बुद्धि का कार्य से संबंध तोड़ दिया है और श्रम के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न की है। जाति का सिद्धांत यह है कि ब्राह्मण, जिसे बुद्धि का विकास करने की अनुमति है, उसे श्रम करने की अनुमति नहीं है, वस्तुतः उससे श्रम की हीन मानने की शिक्षा दी जाती है जब किसी शूद्र की श्रम करने की अनुमति है, परंतु अपनी बुद्धि का विकास करने की अनुमकत नही है। इसके जो भयंकर परिणाम हुए, उनका उत्तम चित्र आर.सी. दत्ता ने अंकित किया है....।[1]

जाति, मनुष्य को निर्जीव बनाती है। वह मनुष्य को निष्फल बनाने की प्रक्रिया है। शिक्षा, संपत्ति तथा परिश्रम सभी के लिए आवश्यक है, यदि व्यक्ति एक स्वतंत्र तथा परिपूर्ण मनुष्य बनना चाहता है, संपत्ति एवं परिश्रम के बिना शिक्षा का होना व्यर्थ है। उसी प्रकार शिक्षा तथा परिश्रम के बिना संपत्ति को होना व्यर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए इनमें से हर चीज आवश्यक है। यह सभी बातें मनुष्य मात्र के विकास के लिए आवश्यक हैं।

ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्षत्रिय को शस्त्र चलाने की शिक्षा लेनी चाहिए, वैश्य को व्यापार करना चाहिए और शूद्र को सेवा करनी चाहिए – यह सब, परिवार में परस्पर निर्भरता का जो सिद्धांत निहित है, उस रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह पूछा जाता है कि एक शूद्र को धन प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है, जब अन्य तीनों वर्ग उसकी सहायता करने के लिए मौजूद हैं? शूद्र को शिक्षा प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है जब जरूरत होने पर पढ़ने-लिखने के लिए वह ब्राह्मण के पास जा सकता है? जब क्षत्रिय उसकी रक्षा करने के लिए तैयार हैं, तब उसे शस्त्र धारण करने की क्या आवश्यकता है? चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत को इस अर्थ से समझते हुए कहा जा सकता है किस समाज में शूद्र को एक रक्षित व्यक्ति के रूप में, और अन्य तीनों वर्गों को उसके रक्षक के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार का अर्थ लगाने से यह एक सरल तथा प्रलोभित करने वाला सिद्धांत बन जाता है। चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत के पीछे यही सही दृष्टिकोण है, ऐसा जानते हुए भी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था न तो अपने-आप में एक परिपूर्ण व्यवस्था है, और न ही छलपूर्ण उद्देश्य से मुक्त है। यदि ब्राह्मण, ज्ञान प्राप्त करने में, क्षत्रिय सैनिक बनने में और वैश्य व्यवसाय करने में असफल हो जाए, तब कैसी स्थिति उत्पन्न होगी? इसके अलावा यदि वे अपना कार्य करते भी हैं, परंतु शूद्र के प्रति अथवा एक-दूसरे के प्रति कर्तव्यों का पालन नहीं करते, तब भी कैसी स्थिति उत्पन्न होगी? यदि वह तीनों वर्ण शूद्र को किसी न्यायोचित आधार पर सहायता करने से इंकार करते हैं अथवा उसका दमन करने के लिए एकत्रित हो जाते

1. उद्धारण पांडुलिपि में उपलब्ध नहीं है – संपादक

हैं, तब उसकी अवस्था कैसी हो जाती है? तब शूद्रों के हितों की रक्षा कौन करेगा? अथवा इसी संदर्भ में वैश्य अथवा क्षत्रिय के हितों की रक्षा कौन करेगा, जब उनके सीधेपन का कोई ब्राह्मण लाभ उठाने का प्रयास करता है? शूद्र की अथवा इस संबंध में ब्राह्मण अथवा वैश्व की स्वतंत्रता की रक्षा कौन करेगा, यदि क्षत्रिय ही उनके इस अधिकार को छीनने का प्रयास करता है। एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर परस्पर निर्भरता को टाला नहीं जा सकता है। एक तरफा ही नहीं, एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर निर्भर रहने के लिए कभी-कभी अनुमति प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। परंतु एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर उसकी सभी अत्यावश्यक जरूरतों के लिए निर्भर क्यों रखा जाता है? शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिए। अपनी रक्षा के साधन प्रत्येक के पास होने चाहिएं। अपने स्व-संरक्षण के लिए प्रत्येक मनुष्य की यह अत्यंत महत्वपूर्ण जरूरते हैं। उनका पड़ोसी शिक्षित तथा शस्त्रधारी है, यह बात उस व्यक्ति के लिए, जो स्वयं अशिक्षित तथा निःशस्त्र है, किसी प्रकार उपयोगी हो सकती है? यह संपूर्ण सिद्धांत ही निरर्थक है। ये कुछ ऐसे प्रश्न है, जिनकी चातुर्णर्य का समर्थन करने वालों को कोई चिंता नहीं है। परंतु यह बहुत ही उचित प्रश्न है। चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत के पीछे भिन्न-भिन्न वर्गों में रक्षित तथा रक्षक का संबंध होने की भावना निहित है, इस बात को जानते हुए भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि यदि रक्षक के बुरे कार्य से रक्षा का कोई प्रबंध नहीं है तो इसमें रक्षित व्यक्ति के हितों की हानि ही होगी। चातुर्वर्ण्य की वास्तविक मूल भावना में रक्षित तथा रक्षक का संबंध चाहे निहित हो ही, परंतु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि व्यवहार में यह एक मालिक तथा नौकर का ही संबंध रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, यह तीनों वर्ण यद्यपि अपने परस्पर संबंधों से संतुष्ट न भी हों, परंतु उन्होंने आपस में समझौता कर लिया है, ब्राह्मणों ने क्षत्रिय की स्तुति की और दोनों ने वैश्य को भी संतोष से जीने दिया, ताकि वे उस पर निर्भर होकर अपना जीवन व्यतीत कर सके। लेकिन तीनों शूद्र का दमन करने की बात पर सहमत थे। उसे संपत्ति प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी गई, ताकि वह इन तीनों वर्णों से मुक्त न हो सके। उसे ज्ञान अर्जित करने से मना किया गया, ताकि वह अपने हितों की रक्षा करने हेतु निरंतर सतर्क न रहे सके। उसे शस्त्र-धारण करने की मनाई की गई, ताकि वह इन तीनों वर्णों के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह न कर सके। शूद्रों के साथ इन तीनों वर्गों ने कैसा व्यवहार किया, यह बात हमें मनु के इस विधान से स्पष्ट हो जाती है। सामाजिक अधिकारों से संबंधित मनु के विधि-नियमों से अधिक कुख्यात अन्य दूसरी विधि-नियमावली नहीं है। किसी स्थान का कोई भी सामाजिक अन्याय का उदाहरण उसके सामने फीका पड़ जाएगा। जिन सामाजिक बुराइयों के तहत उन पर अत्यचार किए गए, उन्हें अनगिनत लोगों ने क्यों सहन किया? दुनिया के दूसरे देशों में सामाजिक क्रांतियां हो गईं, भारत में सामाजिक क्रांति क्यों नहीं हो सकी, इस प्रश्न से मैं निरंतर चिंतित रहता हूं। इस प्रश्न

का मैं केवल एक ही उत्तर दे सकता हूं वह यह है कि चातुर्वर्ण्य की इस व्यवस्था ने हिंदू समाज के निचले स्तर के लोगों को किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष वृत्ति के लिए पूर्णरूप से अयोग्य बना दिया है। वे शस्त्र धारण नहीं कर सकते और बगैर शस्त्र के विद्रोह नहीं कर सकते। वे सभी हल चलाने वाले लोग थे अथवा हम ऐसा कह सकते हैं कि उन्हें हल चलाने को मजबूर किया गया और उन्हें अपने हल को तलबार में बदलने की अनुमति नहीं थी। उनके पास संगीनें नहीं थीं और इसलिए उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने हल पर बैठे रहने के अलावा कुछ कर नहीं सकता था। चातुर्वर्ण्य के कारण उन्हें शिक्षा प्रापत नहीं हो सकी। अपनी मुक्ति के बारे में न तो वे कुछ सोच सकते थे और न ही उन्हें कोई जानकारी थी। उन्हें निम्न बनकर रहने के लिए मजबूर किया गया और उससे मुक्ति का मार्ग ज्ञात न होने के कारण तथा मुक्ति का कोई साधन न होने के कारण वे अपनी स्थायी गुलामी से संतुष्ट हो गए और इसे उन्होंने अपनी नियति मान लिया, जिससे वे अलग नहीं हो सकते। यह सच है कि बलवानों ने यूरोप में भी स्वयं को शोषण करने से नहीं रोका; उन्होंने कमजोर लोगों का शोषण किया, परंतु यूरोप में बलवान लोगों ने दुर्बल लोगों का इतने निर्लज्ज रूप से अपने शोषण के विरुद्ध असहाय नहीं बनाया, जितना कि भारत के हिंदुओं के मामले में देखने को मिलता है। बलवान और दुर्बल लोगों में सामाजिक संघर्ष यूरोप में भारत की तुलना में अधिक तीव्रता से चले हैं और वहां दुर्बल लोगों को सैनिक व्यवसाय में शस्त्र धारण करने की अनुमति है, उन्हें वोट देने का राजनीतिक अधिकार है, तथा शिक्षा के कारण नैतिक अधिकार भी है। यूरोप में बलवानों ने दुर्बल वर्गों से उनकी मुक्ति के यह तीन अधिकार कभी नहीं छीने। तथापि, चातुर्वर्ण्य के कारण भारत में जनता से यह तीनों अधिकार भी छीन लिए गए हैं। तब चातुर्वर्ण्य से और अधिक नीच सामाजिक संगठन की व्यवस्था कौन-सी है जो लोगों को किसी भी कल्याणकारी कार्य करने के लिए निर्जीव तथा विकलांग बना देती है। इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इतिहास में इस संबंध में भरपूर प्रमाण उपलब्ध हैं। भारतीय इतिहास में एकमात्र ऐसा समय, जो कि स्वतंत्रता वह महानता तथा वैभव का प्रतीक कहा जाता था, वह मौर्य साम्राज्य-काल था। अन्य सभी अवधियों में देश को पराभाव तथा अंधकार से गुजरना पड़ा, परंतु मौर्य कालखंड एक ऐसा कालखंड था, जिसमें चातुर्वर्ण्य पूर्ण रूप से निर्मल हो गया था, जब शूद्र जन, जो कि प्रजा का एक मुख्य भाग थे, आत्मनिर्भर हो गए थे और देश के शासक बन गए थे। वह काल जब चातुर्वर्ण्य के फलने-फूलने पर देश के लोगों के एक बड़े समूह को लाचार जीवन व्यतीत करना पड़ा, पराभाव तथा अंधकार का समय है।

जाति के कारण परिवर्तनशीलता रुक जाती है। कभी-कभी ऐसा समय भी आता है, जब समाज को किसी संकटकालीन स्थिति से अपने-आपको बचाने के लिए अपने सभी साधन एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण

के लिए, जब युद्ध के समान संकट आते हैं, तब समाज के लिए अपने सभी साधन सैनिक कार्रवाई के लिए स्थानांतरित करना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक का युद्ध में लड़ना आवश्यक होता है। प्रत्येक व्यक्ति सैनिक होना चाहिए, लेकिन क्या जाति से सिद्धांत के अंतर्गत यह संभव हो सकता है? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं है। भारतीय इतिहास में पराभाव की जो एक परंपरा बनी हुई है, उसके लिए जाति-व्यवस्था ही जिम्मेदार है। जाति-व्यवस्था सर्वसाधारण की गतिशीलता रोक देती है, अथवा केवल क्षत्रिय ही युद्ध में लड़ें, ऐसी अपेक्षा की जाती थी। शेष, ब्राह्मण तथा वैश्य लोगों ने शस्त्र धारण नहीं किए थे और शूद्र, जो कि देश का एक बहुत ही बड़ा हिस्सा था, वे शस्त्र धारण कर ही नहीं सकते थे। इसका नतीजा यही होना था कि जब क्षत्रियों का एक छोटा-सा वर्ग किसी विदेशी शत्रु द्वारा पराजित हो जाए, तब संपूर्ण देश उस शत्रु के चरणों में चला जाए। यहां तक कि वह किसी भी प्रकार के प्रतिकार के योग्य भी नहीं रहता। भारतीय युद्ध अधिकतर केवल अकेले युद्ध अथवा संघर्ष होते थे। ऐसा इसलिए होता था क्योंकि तब एक बार क्षत्रिय हार खा जाते, सभी कुछ समाप्त हो जाता। आखिर ऐसा क्यों? इस बात का सीधा उत्तर यही है कि समाज में सर्वसाधारण की गतिशीलता को मान्यता नहीं दी गई थी और जाति का यह सिद्धांत लोगों की मानसिकता में बहुत गहरा धंसा हुआ था।

यदि उपरोक्त निष्कर्ष सही है, तब ऐसे दर्शन या तत्वज्ञान को, जो समाज को अलग-अलग टुकड़ों में बांटता हो, जो कार्य की रुचि से अलग करता हो, जो मनुष्य के वास्तविक हितों के अधिकार को नष्ट करता हो और जो संकट के समय समाज को सुरक्षित करने के लिए अपने साधनों को गतिशील बनाने के मार्ग में रूकावटें पैदा करता हो, ऐसा दर्शन सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर सफल है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? इसलिए हिंदू धर्म का दर्शन न तो सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर, और न ही व्यक्तिगत न्याय की कसौटी पर खरा उतरता है।

V

मेरे विश्लेषण का निष्कर्ष इतना विचित्र है कि उससे अनेक लोगों को आश्चर्य हो सकता है। इससे आश्चर्यान्वित कुछ लोग तो ऐसा भी कह सकते हैं कि यदि मेरे निष्कर्ष इतने विचित्र हैं, तब हिंदू धर्म के दर्शन के मेरे इस विश्लेषण में कुछ-न-कुछ गलती अवश्य होगी। मुझे उनकी इस आपत्ति का उत्तर देना ही होगा। जो लोग मेरे इस विश्लेषण को स्वीकार करने से इंकार करते हैं, उनके लिए मैं यहीं कहना चाहूंगा कि उन लोगों को मेरा विश्लेषण इसलिए विचित्र लगता है, क्योंकि उन लोगों की हिंदू धर्म के दर्शन के संबंध में धारणाएं सही नहीं हैं। यदि वे सही धारणाएं रखते हैं, तब मेरे निष्कर्षों पर उन्हें आश्चर्य नहीं होगा।

यह बात इतनी महत्वपूर्ण है कि उसे स्पष्ट करने के लिए मुझे यहीं पर रुक जाना चाहिए। इस बात को ध्यान रखना होगा कि इसके पूर्व मैंने धार्मिक क्रांति का जो विश्लेषण किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि मानवीय समाज के दैवी प्रशासन के रूप में धार्मिक आदर्शों के दो प्रकार होते हैं – वह एक, जिसमें समाज उसका केंद्र बिंदु है और दूसरा वह, जिसमें व्यक्ति केंद्र बिंदु है। इसी विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि पहले प्रकार के आदर्शों में, क्या अच्छा है तथा क्या सही है। उदाहरणार्थ नैतिक व्यवस्था की कसौटी उपयोगिता है, जब कि दूसरे प्रकार के आदर्श में कसौटी न्याय है। अब हिंदू धर्म का दर्शन न तो उपयोगिता की कसौटी का और न न्याय की कसौटी का बत्तर दे सकता है। इसका कारण यह है कि हिंदू धर्म में मानव समाज के दैवी प्रशसन का धार्मिक आदर्श एक ऐसा आदर्श है, जो स्वयं एक अलग वर्ग के अंतर्गत आता है यह ऐसा आदर्श जिसमें व्यक्ति केंद्र की परिधि में नहीं है। आदर्श का केंद्र बिंदु न तो एक व्यक्ति है और न ही समाज। उसका केंद्र बिंदु एक विशिष्ट वर्ग महामानवों का वर्ग है, जिन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। जो लोग इस महत्वपूर्ण परंतु विध्वंसक सच्चाई को ध्यान में रखेंगे, वे इस बात को समझ सकते हैं कि हिंदू धर्म के दर्पण की प्रतिस्थापना व्यक्तिगत न्याय अथवा सामाजिक उपयोगिता पर क्यों नहीं है? हिंदु धर्म के दर्शन की स्थापना संपूर्ण रूप से एक अलग तत्व के आधार पर की गई है। क्या योग्य है अथवा क्या उत्तम है, इस प्रश्न का हिंदू धर्म में एक विचित्र उत्तर मिलता है इसके अनुसार योग्य अथवा उत्तम कार्य वही है जो इन महामानवों के वर्ग, यानी ब्राह्मणों के हितों की रक्षा करता है। ऑस्कर वाइल्ड ने कहा है कि सुबोध होने का मतलब है, पहचाना जाना, मनु को कोई समझे इस बात का उसे न भय है, न शर्मिंदगी। मनु इस बात का अवसर ही नहीं देता कि उसे कोई उसे खोज। वह अपने विचार मुखर एवं भव्य मंत्रों में व्यक्त करता है कि कौन महामानव है और कोई भी बात, जो इन महामानवों के हितों की रक्षा करती हो, उसे ही योग्य तथा उत्तम कहा जाए। मैं मनु के कुछ वक्तव्यों का उल्लेख करना चाहूंगा –

> 10.3 जाति की विशिष्टता से, उत्पत्ति-स्थान की अध्ययन, अध्यापन एवं व्याख्यान आदि द्वारा नियम के धारण करने से और यज्ञोपवीत संस्कार आदि की श्रेष्ठता से ब्राह्मण की सब वर्णों का स्वामी है।
>
> मनु अपने इस वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कजता है:
>
> 1.93 ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण ज्येष्ठ होने से और वेद के धारण करने के धर्मानुसार ब्राह्मण ही सृष्टि का स्वामी होता है।
>
> 1.94 स्वयंभू इस ब्रह्मा ने हव्य तथा काव्य को पहुंचाने के लिए और संपूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही अपने मुख से उत्पन्न किया।

1.95 ब्राह्मण के मुख से देवता लोग हव्य को तथा पितर लोग कव्य के खाते हैं, अतः ब्राह्मण से अधिक श्रेष्ठ प्राणी कौन होगा।

1.96 भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ है, प्रणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है।

ब्राह्मण प्रथम श्रेणी का मनुष्य है, क्योंकि ईश्वर ने उसे देवताओं का तथा पितरों की आत्माओं की आहुति देने के लिए अपने मुख से निर्मित किया, इसके अलावा, ब्राह्मण की श्रेष्ठता के मनु ने कुछ और कारण बताएं हैं, वह कहता है :

1.98 केवल ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की नित्य देह है, क्योंकि धर्म के लिए उत्पन्न ब्राह्मण मोक्षलाभ के योग्य है।

1.99 उत्पन्न होते ही ब्राह्मण पृथ्वी पर श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि वह धर्म की रक्षा के लिए समर्थ होता है। मनु यह कहते हुए उपसंहार करता है:

1.101 ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है, अपना ही दान करता है, तथा दूसरे व्यक्ति ब्राह्मण की दया से सबका भोग करते है।

मनु का कहना है :

1.100 विश्व-भर में जो कुछ भी है, वह सब कुछ ब्राह्मण की संपत्ति है। अपने सर्वश्रेष्ठ जन्म के कारण ही ब्राह्मण इन सभी के लिए पात्र है।

मनु ने निर्देश दिया है :

7.37 राजा प्रातःकाल उठकर ऋग्यजुस्राम के ज्ञाता और विद्वान ब्राह्मणों की सेवा करे और उनके कहने के अनुसार कार्य करें।

7.38 वह वृद्ध, वेद ज्ञात और शुद्ध हृदय वाले ब्राह्मण की नित्य सेवा करें।

9.3.13 यद्यपि कितनी भी भारी पैसे की तंगी हो, राजा को ब्राह्मण की संपत्ति छीनकर उसे क्रोधित नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अगर क्रोधित हो जाए तो तुरंत ही तपस्या से और श्राप देकर राजा को उसकी सेना, हाथी, घोड़े और रथ आदि सभी के साथ नष्ट कर सकता है।

अंत में मुन कहता है :

11.35 शास्त्रोक्त कर्मों का करने वाला, पुत्र-शिष्यादि को शासन करने वाला, प्रायश्चित विधि आदि का कहने वाला ब्राह्मण सबका मित्र रूप है, अतएव उससे अशुभ वचन तथा रूखी बात नहीं करनी चाहिए।

10.122 परंतु स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से अथवा इस जन्म में अगले जन्म के उद्देश्य से शूद्र को ब्राह्मण की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि जिसे ब्राह्मण का सेवक माना जाता है, उसे सभी सुख-शांति प्राप्त होती है।

> 10.123 शूद्र के लिए, ब्राह्मण की सेवा करना, केवल यही सर्वोत्तम व्यवसाय है, क्योंकि इसके अलावा वह जो कुछ भी करता है, उससे कोई फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मनु और आगे कहता है :

> 10.129 शूद्र संचय करने की स्थिति में हो, फिर भी ऐसा न करे, क्योंकि जो शूद्र धन संचय करता है, वह ब्राह्मण को दुख पहुंचाता है।

मनु के उपरोक्त विधानों से हिंदू धर्म के दर्शन का सही रूप स्पष्ट होता है। हिंदू धर्म महामानव (ब्राह्मण) का धर्म है और वह यह उपदेश देता है कि जो बात महामानव के लिए उचित है, वहीं नैतिक दृष्टि से सही और उचित है।

क्या इसके समानांतर कोई और भी दर्शन है? उसे बताते हुए भी मुझे घृणा आती है। परंतु बात बिल्कुल स्पष्ट है। हिंदू धर्म के दर्शन का समानांतर केवल तीत्शे में ही मिलता है। इस सुझाव पर हिंदू क्रोधित हो सकते हैं। वह सर्वथा स्वाभाविक है क्योंकि नीत्शे के दर्शन की भारी उपेक्षा की जाती है। वह कभी पनपा नहीं। उसके अपने ही शब्दों में उसे कभी बड़े-बड़े अमीरों, सामंतों का दार्शनिक कहा गया, तो कभी उसे दुत्कार दिया गया। कभी-कभी उस पर दया की गई और कभी-कभी अमानवीय मानकर उसकी उपेक्षा की गई। नीत्शे के दर्शन की पहचान सत्ता की लालसा, हिंसाचार, नैतिक मूल्यों का नकार, महामानव और उसके लिए त्याग, गुलामी और सामान्य मनुष्य की अधोगति, इन बातों के साथ ही की जाने लगी। उसके दर्शन ने इन कुछ मुख्य बातों के कारण उसकी अपनी पीढ़ी के लोगों के मल में ही घिनौनेपन की भावना तथा आतंक का निर्माण किया। उसकी भारी उपेक्षा की गई, यद्यपि उसे बहिष्कृत न भी किया गया हो और स्वयं नीत्शे ने अपने-आपको मरणोपरांत सम्मानित व्यक्तियों की सूची में समावेश करके राहत महसूस की। उसने अपने स्वयं के लिए अपने समय से आगे अनेक सदियों बाद एक ऐसे समाज की कल्पना की जो शायद उसकी प्रशंसा करें। लेकिन इस बात में भी उसे निराशा सहनी पड़ी। उसके दर्शन की प्रशंसा होने के बजाए समय बीतने के साथ-साथ तीत्शे की पीढ़ी के लोगों के मन में जो उपेक्षा तथा डर की भावना थी, वह और भी बढ़ने लगी। ऐसा इसलिए, हुआ क्योंकि तीत्शे के दर्शन में नाजीवाद निर्माण की क्षमता है। यह बात लोगों को स्पष्ट हो गई थी। उसके मित्रों ने ही इस धारणा का तीव्र विरोध किया। परंतु यह जानना कठिन नहीं है कि उसका दर्शन किसी महामानव के निर्माण के बजाए एक महाराज्य निर्माण करने के लिए आसानी से लागू किया जा सकता है और नाजी लोगों ने वैसा ही किया। चाहे कुछ भी हो, नाजी लोक नीत्शे को अपना पूर्वज कहते हैं और उसे अपना आध्यामिक गुरू मानते हैं। हिटलर ने स्वयं नीत्शे की आवक्ष मूर्ति के साथ

1. *फ्राम नीत्शे डाउन टु हिटलर*, एम. पी. निकोथस, 1938

अपना चित्र खिचवाया था। उसने नीत्शे के सभी मूल लेख अपनी विशेष निगरानी में रखे। उसके लेखों से कुछ उदाहरण निकाले और उसे नाजीवाद के समारोहों में नए जर्मन धर्म के रूप में घोषित किया। नीत्शे नाजीवाद लोगों का आध्यात्मिक पूर्वज है, इस बात से नीत्शे के नजदीकी संबंधियों ने भी इंकार नहीं किया। नीत्शे के चचेरे भाई रिचार्ड औलचर ने यह बात कबूल की है कि हिटलर की सक्रियता नीत्शे के विचारों की परणति है और नाजी लोगों के सत्ता में आने के पीछे नीत्शे की ही मूल प्रेरणा थी। स्वयं नीत्शे की बहन ने अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व हिटलर को उसके भाई को सम्मानित करने के लिए धन्यवाद दिया और कहा कि जरथुस्त्र में जिस महामानव का वर्णन किया गया है, उसका अवतार वह हिटलर में देखती है।

नीत्शे, जिसके दर्शन से इतनी तीव्र उपेक्षा तथा डर पैदा होता है, उसकी बराबरी मनु के साथ करने के निश्चित ही हिंदुओं को अचंभा हो सकता है और उनके मन में क्रोध भी पैदा हो सकता है। परंतु इस सच्चाई के बारे में कोई संदेह नहीं किया जा सकता है। नीत्शे ने स्वयं यह बात कही है कि उसके दर्शन में उसने केवल मनु की योजना का अनुसरण ही किया है। अपनी एंटी क्राइस्ट पुस्तक में नीत्शे ने कहा है:

अंततः प्रश्न यह है कि झूठ किस सीमा तक बोला जाए? इस सत्य को कि ईसाई धर्म में पवित्र उद्देश्यों का अभाव है, जिसके कारण वे जिन साधनों का उपयोग करते है उन पर मेरी आपत्ति है, उनके उद्देश्य केवल बुरे उद्देश्य हैं। पाप की संकल्पा के कारण मनुष्य सुख से वंचित रहता है। अपने शरीर से तिरस्कृत रहता है, अपना जीवन जहरीला और कलंकित बनाता है तथा अपने-आपको गिरा हुआ और कलुषित मानता है। परिणामस्वरूप, उसके साधन भी बुरे हैं। मेरी भावनाएं इसके बिल्कुल विपरीत हैं। जब मैं मनु का विधान पढ़ता हूं, जो निश्चित ही एक अतुलनीय, अपूर्व बौद्धिक तथा श्रेष्ठ कलाकृति है, उसका बाइबिल के साथ उल्लेख करना भी एक भारी पाप होगा। आप तुरंत जान सकते है, ऐसा क्यों? क्योंकि उसमें, उसकी पृष्ठभूमि में एक सच्चा दर्शन है। उसमें केवल ज्यू लोगों के रब्बिनवाद की गंध वाले सार और वहम नहीं हैं, उसमें बड़े-बड़े तुनक मिजाज मनौवैज्ञानिक की बुद्धि के लिए भी भरपूर सामग्री है और अत्यधिक महत्वपूर्ण तथा न भूलने वाली बात यह है कि मनु का विधान मौलिक रूप से बाइबिल से सभी प्रकार से भिन्न है, उसके कारण समाज के प्रतिष्ठित वर्ग, दार्शनिक और योद्धा जनता की रक्षा करते हैं और उनका मार्गदर्शन करते हैं। वह महान आदर्शों से ओत-प्रोत है। वह परिपूर्णता की भावना से भरा हुआ है उसमें जीवन का सार है और अपने स्वयं के प्रति तथा जीवन के प्रति कल्याण की विजयी भावना है। उस संपूर्ण ग्रंथ पर सूर्य की जगमगाहट है। वह प्रजोत्पादन, स्त्री, विवाह आदि सभी बातों को जिन्हें इसाई धर्म अपनी गहरी अश्लीलता से दबा देता है, यहां ईमानदारी, आदर, प्रेम तथा विश्वास के साथ प्रस्तुत किया गया है।

व्यभिचार को टालने के लिए, प्रत्येक पुरुष की अपनी पत्नी होनी चाहिए और प्रत्येक स्त्री का अपना पति होना चाहिए।.....जलने की बजाय विवाह करना उत्तम है ऐसी पुस्तक जिसमें ऐसे शब्दों का समावेश है, बच्चों तथा स्त्रियों के हाथों में कैसे दे सकते हैं और जब मनुष्य की उत्पत्ति को ही ईसाई बना दिया है, अर्थात् निष्कलंक धर्म-धारण की भावना से कलुषित किया है, तब क्या ईसाई बनना उचित होगा?.......

> जिस प्रकार मनु के विधान की पुस्तक में स्त्रियों के प्रति जितनी सुंदर तथा उत्तम बातें कही गई हैं, ऐसी बातें कहने वाली कोई दूसरी पुस्तक मैं नहीं जानता। इन वृद्ध सफेद दाढ़ी वालों और संतों ने स्त्रियों का वर्णन करने में जिस दुस्साहस का परिचय दिया है, उसकी बराबरी कहीं भी नहीं। एक स्थान पर मनु कहता है - स्त्री का मुख, कुमारी का वक्ष, बच्चे की प्रार्थना और यज्ञ का धुआं हमेश शुद्ध होते हैं। एक और स्थान पर वह कहता है - सूर्य का प्रकाश, गाय की छाया, हवा, जल, अग्नि तथा कुमारी की श्वास, इनसे शुद्ध कोई दूसरी वस्तु नहीं है। और अंत में शायद यह बताना भी एक पवित्र झूठ है कि स्त्री के शरीर के नाभि के ऊपर का खुला हिस्सा शुद्ध है और नाभि के नीचे का हिस्सा अशुद्ध है। केवल कुमारी का ही संपूर्ण शरीर शुद्ध होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता है कि जरथूस्त मनु का ही एक नया नाम है और दस स्पेक जरथूस्त मनुस्मृति की ही एक नई आवृत्ति है।

अगर मनु और नीत्शे में कोई अंतर है, तो वह इस बात में है कि नीत्शे यथार्थतः एक नई मानवजाति की रचना करना चाहता था जो कि वर्तमान मानव जाति की तुलना में महामानवों की जाति हो। इसके विपरीत मनु एक ऐसी जाति के विशेषाधिकारों की रक्षा में दिलचस्पी रखता था जो अनाधिकार रूप से महामानव बनने की चेष्टा करते थे। नीत्शे के महामानव उनके गुणों से महामानव थे, मनु के महामानव केवल उनके जन्म के कारण महामानव बनते थे। नीत्शे एक सच्चा निस्वार्थी दार्शनिक था। इसके विपरीत मनु एक ऐसा भाड़े का दलाल था, जो एक विशेष समुदाय में जन्मे लोगों के स्वार्थ की रक्षा करने के लिए रखा गया था - जो अपने गुणों को खो भी दें तो भी उनका महामानव का स्तर नहीं खोया जा सकेगा। वह ऐसे दर्शन का प्रणेता था। हम मनु के निम्नलिखित उदाहरणों की तुलना करते हैं :

> 10.81. ब्राह्मण यदि अपने कर्म से जीवन निर्वाह कर सके, तो क्षत्रिय का कर्म करता हुआ जीवन निर्वाह करे क्योंकि क्षत्रिय वर्ग उसका समीपवर्ती है।
>
> 10.82 यदि वह दोनों (ब्राह्मण कर्म तथा क्षत्रिय कर्म) से जीवन निर्वाह नहीं कर सकता तो ब्राह्मण किस प्रकार रहे? यदि ऐसा संदेह हो जाए, तो

वह वैश्य के कर्म, खेती, गौ–पालन और व्यापार से जीविका करे।

मनु आगे कहता है

9.317 ब्राह्मण चाहे मूर्ख हो या बुद्धिमान, वह महान–पूज्य व्यक्ति होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे अग्नि, चाहे शास्त्र विधि से स्थापित है अथवा सामान्य अग्नि है,

9.319 इस प्रकार ब्राह्मण यदि कोई नीच व्यवसाय भी करे, उनका प्रत्येक प्रकार से सम्मान होना चाहिए, क्योंकि, वह उत्तम देवता है।

इस प्रकार नीत्शे की तुलना में मनु के महामानव का दर्शन अधिक नीच तथा भ्रष्ट है, नीत्शे के दर्शन से अधिक घृणित एवं निर्दनीय है।

इससे पता चलता है कि हिंदुत्व का दर्शन न्याय और उपयोगिता की कसौटी पर किस प्रकार से खरा नहीं उतरता। हिंदू धर्म की रुचि सर्वसाधारण लोगों में नहीं है। हिंदू धर्म की रुचि पूरे समाज में नहीं है। उसकी रुचि एक वर्ग के हित में केंद्रित है और उसके दर्शन का संबंध भी केवल उस वर्ग के अधिकारों की रक्षा और समर्थन करने से है। इसलिए हिंदू धर्म के दर्शन में सामान्य मनुष्य तथा उसके साथ–साथ संपूर्ण समाज के हितों को महामानवों (ब्राह्मणों) के वर्ग हितों के लिए नकारा गया है, दबाया गया है और उनकी बलि चढ़ाई गई है।

ऐसे धर्म का मनुष्य के लिए क्या महत्व है?

धर्म के प्रत्यक्षवाद के गुणों के विषय में बाल्फोर महोदय ने प्रत्यक्षवादियों से कुछ प्रश्न पूछे थे, जिनका उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने स्पष्टतया पूछा :

समाज के अनगिनत महत्वहीन लोग जो अपनी दैनिक जरूरतों तथा छोटी–छोटी चिंताओं के साथ निरंतर संघर्ष करने में इतने अधिक उलझे हुए हैं और बहुत ही व्यस्त हैं जिनके पास सुख चैन के लिए कोई समय नहीं अथवा जिन लोगों को मानवता के नाम के नाटक में उनकी निश्चित भूमिका के विचार की आवश्यकता नहीं है और वैसे ही जो लोग इसके महत्व तथा हित समझने में भ्रमित हो जाएंगे, ऐसे लोगों के संबंध में प्रत्यक्षवाद के क्या विचार हैं? क्या वे उन्हें ऐसा आश्वासन दे सकते हैं कि उस ईश्वर की नजर में, जिसने स्वर्ग का निर्माण किया है, कोई भी व्यक्ति ऐसा महत्वहीन नहीं है कि उनके कार्य की ईश्वर की नजर में कोई कद्र नहीं होगी या वह इतना कमजोर है कि उसके कार्य का परिणाम संसार का विनाश होगा। क्या यह उन दीन–दुखी लोगों को सांत्वना दे सकता है? क्या दुर्बलों को शक्ति दे सकता है? क्या पापी लोगों को क्षमा कर सकता है? और जो लोग थके हैं तथा किसी बोझ के नीचे दबे हैं, उन्हें आराम दे सकता है?''

यही प्रश्न मनु से पूछे जा सकते हैं और इनमें से प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सकारात्मक होना चाहिए।

संक्षेप में, हिंदू धर्म का दर्शन ऐसा है कि उसे मानवता का धर्म नहीं कहा जा सकता। इसीलिए ही बाल्फोर की भाषा का उपयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि यदि हिंदू धर्म सर्वसाधारण लोगों के जीवन में गहरे प्रवेश करता है, लेकिन उन्हें सुरक्षा का कवच नहीं प्रदान करता। वस्तुतः उन लोगों को विकलांग बनाता तो हिंदु धर्म में सामान्य मानवीय आत्माओं के लिए कोई पोषक तत्व नहीं है। साधारण मानवीय दुख का कोई समाधान नहीं है। साधारण मानवीय कमजोरी के लिए कोई सहायता नहीं है, कुल मिलाकर हिंदू धर्म लोगों को अंधकार में छोड़ देता है। इतने क्रूर अधर्म से अधिाक क्रूर कार्य और क्या हो सकता है। वह मनुष्य का ईश्वर के साथ जो संबंध है, उसे ही भंग कर देता है।

हिंदू धर्म का दर्शन ऐसा है। वह महामानव (ब्राह्मण) के लिए स्वर्ग है, तो साधारण मनुष्य के लिए नर्क है।

मैं जानता हूं कि हिंदू धर्म के दर्शन के संबंध में मेरे विचारों पर चारों ओर से आक्रमण हो सकता है। इसके संबंध में जो वर्तमान धारणाएं हैं, उनसे यह स्थिति इतनी विपरीत है कि उस पर आक्रमण होना अनिवार्य है। यह आक्रमण भिन्न दिशाओं से हो सकता है।

ऐसा कहा जाएगा कि मनुस्मृति, हिंदू धर्म का धर्म ग्रंथ है। मेरा ऐसा मानना ही गलत है और हिंदुत्व का शिक्षा सार वेद तथा भगवतगीता में सम्मिलित है।

परंतु यह मेरा निश्चित विश्वास है कि कोई भी रूढ़िवादी हिंदू ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता है कि मनुस्मृति, हिंदू धर्म का धर्म-ग्रंथ नहीं है। ऐसा आरोप केवल कुछ सुधारवादी हिंदू पंथ के लोग, जैसे कि आर्य-समाज के लोग ही लगा सकते हैं। परंतु इस आरोप के उत्तर के लिए शायद यह उचित होगा कि विभिन्न स्मृतियों ने हिंदूओं में कैसे अधिकार का स्थान प्राप्त किया।[1] इस बात को स्पष्ट किया जाए।

मूलतः रूप से, स्मृति उन नियमों का संग्रह है, जिनका संबंध सामाजिक परंपरा, रूढ़ियों तथा मान्यताओं से है और जिन्हें उन लोगों द्वारा मान्यता मिली हुई है, उन्होंने उसे पुरस्कृत किया है, जिन्हें वेदों का ज्ञान है। दीर्घ समय तक ये नियम, इन वेदों के ज्ञान ज्ञान-प्राप्त लोगों की स्मृति में ही बसे हुए थे, इसीलिए उन्हें स्मृति कहा जाने लगा, अर्थात् कुछ ऐसी बातें, जो वेदों या श्रृति से अलग याद रखी जाती हैं, जिसका

1. देखिए, प्रो. अल्तेकर द्वारा लिखित '*दि पोजीशन आफ स्मृतिज एज ए सोर्स आफ धर्म*' (काने मैमोरियल वोल्यूम) पृ. 18-25

अर्थ है, ऐसी बातें जिन्हें सुना गया है। यहां यह भी बता देना आवश्यक है कि शुरू में जब स्मृति की नियमावली बनाई जा रही थी, तब भी उसके नियमों को वेदों में सम्मिलित नियमों की तुलना में निम्न स्तर का ही माना जाता था।

उनके अधिकार तथा बंधनों में जो अंतर है, वह उस स्वभाविक अंतर का नतीजा है, जो किसी बात को सुनने की तुलना में किसी बात को याद रखने का विश्वास करने की योग्यता में होता है। इन दो प्रकार के धर्मशास्त्रों में यह जो अंतर है, उसका और भी एक कारण है। यह अंतर इनके लेखकों के स्तर पर आधारित है। वेदों के लेखक ऋषि थे। स्मृति के लेखक केवल विद्वान व्यक्ति थे, और ऋषियों का स्तर तथा मान्यता उन लोगों से निश्चित श्रेष्ठ थी जो केवल विद्वान थे। परिणामस्वरूप, वेदों को स्मृति की तुलना में अधिाक अधिकारयुक्त माना गया।

इसके कारण जो परिस्थिति निर्मित होती है, उसे हिंदू ब्रह्मविज्ञान में उत्तम प्रकार से स्पष्ट किया गया। इसके अनुसार, यदि किसी समान विषय पर दो वेदों के नियमों में विरोध उत्पन्न हो जाए, तब किसी भी एक नियम का पालन करने की अनुमति दी जाती है, परंतु दोनों ही नियम कार्यरत रहते हैं। इसके विपरीत, जब श्रुति तथा स्मृति के नियमों में विरोध उत्पन्न हो जाए, जब श्रुति का नियम ही माना जाए क्योंकि, ऊपर बताया गया है, स्मृति का स्तर श्रुति के अधिकार की तुलना में हीन है। लेकिन जैसा कि प्रो. अल्तेकर ने स्पष्ट किया है। कुछ समय बीतने के बाद स्मृति को भी वही अधिकार प्राप्त हो जाएं, जो वेदों को मिले थे और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न उपाय अपनाए गए। प्रथम स्थान पर स्मृति के लेखक का स्थान ऋषियों के स्तर तक ऊंचा उठाया गया, जो आरंभिक धर्मशास्त्रों के लेखक थे, जैसे कि गौतम और बोद्धायन। उन्होंने कभी भी ऋषियों का समान स्तर नहीं दिया गया। परंतु मनु और याज्ञवलक्य को ऋषि की मान्यता दे दी गई और इस माध्यम से स्मृति का स्तर श्रुति के समान स्तर पर लाया गया। स्मृति को श्रुति की यादगार का एक ऐसा लिखित प्रमाण मानना, जो नष्ट हो गया है, यह दूसरा उपाय अपनाया गया। इस प्रकार स्मृति, एक ऐसी वस्तु जो श्रुति से सर्वथा भिन्न है, ऐसी माने जाने के बजाय श्रुति से बिल्कुल मिलती-जुलती और अभेद्य मानी जाने लगी। इन उपायों का नतीजा दोनों के अधिकारों से संबंधित नियमों में संपूर्ण परिवर्तन में हुआ। प्रारंभ में यदि स्मृति और श्रुति में विरोध हो जाए तब श्रुति का अधिकार ही चलता था। नया नियम यह हो गया कि विरोध की ऐसी स्थिति में किसी भी नियम को मानने की अनुमति थी, जिसका अर्थ यह था कि स्मृति का नियम भी उतना ही कार्यरत था, जितना कि श्रुति का इस नए नियम को, कुमारिल ने अपने पूर्व मीमांसा के भाष्य में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है, जिसके द्वारा स्मृति को भी उतना ही अधिकार-युक्त बनाया गया जितना कि श्रुतियां थीं।

जबकि मौलिक रूप से हिंदू समाज वेदों के साथ बंधा हुआ था और वह उन नियमों का पालन नहीं कर सकता था जो वेदों के विरोधी थे, इस नए नियम ने स्थिति को बदल दिया और समाज को श्रुति अथवा स्मृति का अनुसरण करने की छूट दी। परंतु बाद में इस छूट को भी वापस ले लिया गया। स्मृति का अध्ययन भी, श्रुति के समान ही अनिवार्य बना दिया गया।

यह परिवर्तन धीरे-धीरे किया गया। प्रथम स्थान पर ऐसा सूचित किया गया कि श्रुति तथा स्मृति ब्रह्मा की दो आंखें हैं और यदि उसकी एक आंख न हो, तब वह एक आंख वाला व्यक्ति बन जाता है। उसके बाद ऐसा सिद्धांत आया कि ब्रह्मणत्व, वेद तथा स्मृति दोनों के संयुक्त अध्ययन के परिणाम से ही संभव हो सकता है। अंत में ऐसा नियम आया जिसके अनुसार केवल स्मृति को मान्यता दी गई और उसकी निंदा करना पाप माना गया तथा जो व्यक्ति इसका दोषी होगा वह इक्कीस पीढ़ियों तक राक्षस योनि में जन्म लेगा, ऐसा घोषित किया गया।

इस प्रकार स्मृति को हिंदू धर्म के स्रोत के रूप में मान्यता प्रदान की गई और इस बात में कोई संदेह नहीं है प्रो. अल्तेकर के अनुसार :

> 'स्मृतियों ने आधुनिक हिंदू धर्म के विकास की रचना में अनेक सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं तथा प्रथाओं के पहलू निश्चित करने के कार्य में बहुत ही महान भूमिका निभाई।'

इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि मैंने मनुस्मृति को हिंदू धर्म का दर्शन मानकर गलती की।

स्मृति को वेदों के स्तर तक ऊंचा उठाने का यह कार्य ब्राह्मणों द्वारा एक अत्यंत स्वार्थ के कारण किया गया था। स्मृतियों में, उसके सभी जंगली तथा विलासितापूर्ण विकास में जाति के सिद्धांत ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, उनके अधिकार तथा विशेषाधिकारों के सिद्धांत तथा क्षत्रिय तथा वैश्यों की मातहती के सिद्धांत का तथा शूद्रों को निम्नीकरण के सिद्धांत का समावेश है। स्मृति का दर्शन इस प्रकार का होने के कारण उसे भी वही अधिकार प्रदान करने में ब्राह्मणों का प्रत्यक्ष हित था जो वेदों को दिए गए थे और जिस कार्य में अंत में उन्हें अपने हित के पक्ष में सफलता भी मिल गई। लेकिन इसके कारण संपूर्ण देश का सर्वनाश हो गया। परंतु फिर भी, जैसा कि समानता और धर्माचारी हिंदू कहते हैं, यह मानते हुए भी कि स्मृतियों में हिंदू धर्म के दर्शन का समावेश नहीं है, किन्तु उसे वेद तथा *भगवतगीता* से प्राप्त किया जा सकता है, यह प्रश्न रह ही जाता है कि इससे अंतिम परिणामों में क्या फर्क पड़ता है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि चाहे हम स्मृति, वेद अथवा *भगवतगीता* को लें,

उससे इस स्थिति में कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता।

क्या वेदों की शिक्षा, स्मृति की शिक्षा से मौलिक रूप से भिन्न है? क्या *भगवतगीता* स्मृति के बंधनों से विपरीत है? कुछ उदाहरण इस स्थिति को स्पष्ट कर सकते हैं।

यह निर्विवाद है कि वेदों ने चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत की रचना की है, जिसे *पुरुषसूक्त* नाम से जाना जाता है। यह दो मूलभूत तत्वों को मान्यता देता है उसने समाज के चार भागों में विभाजन को एक आदर्श योजना के रूप में मान्यता दी है। उसने इस बात को भी मान्यता प्रदान की है कि इन चारों भागों के संबंध असमानता के आधाार पर होने चाहिएं। *भगवतगीता* ने जो विद्या दी है, वह भी विवाद से परे है। जो शिक्षा कृष्ण ने *भगवतगीता* में दी है, उसे निम्नलिखित अधिाघोषण द्वारा संक्षेप में बताया जा सकता है :

> 4.13 मैंने स्वयं उस व्यवस्था की रचना की है, जिसे चातुर्वर्ण्य कहा जाता है (यानी, समाज का चार जातियों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में चौगुना विभाजन) और उसके साथ ही उनकी मौलिक कार्यक्षमता के अनुसार उनके व्यवसायों का निश्चयीकरण। चातुर्वर्ण्य का रचयिता जो है, वह मैं ही हूं।
>
> 3.35 यद्यपि दूसरे वर्ण का व्यवसाय (कर्म) अपनाना आसान हो सकता है। परंतु व्यवसाय को उतनी कार्य-कुशलता से न कर सके। अपने ही स्वयं के वर्ण का व्यवसाय करने में सुख है, यदि उसे करते हुए मृत्यु भी क्यों न आए, परंतु दूसरे वर्ण का व्यवसाय अपनाना आपदा का कारण हो सकता है।
>
> 2.26.29. शिक्षित लोगों को उन अशिक्षित लोगों विश्वास को भंग नहीं करना चाहिए, जो अपने व्यवसाय (कर्म) के साथ जुड़े हुए हैं। वे स्वयं अपने व्यवसाय का पालन करें और तदनुसार दूसरों को भी अपने वर्णो के व्यवसाय का पालन करने के लिए बाध्य करें। शायद, शिक्षित मनुष्य अपने व्यवसाय के साथ जुड़े हैं, शिक्षित मनुष्य को उन्हें उनका व्यवसाय लांघकर गलत रास्ते पर चलने के लिए भ्रष्ट नहीं करना चाहिए।
>
> 4.7.8 'हे अर्जुन! जब-जब कर्तव्य तथा व्यवसाय के इस धर्म का यानी (चातुर्वर्ण्य के धर्म का) पतन होगा, तब-तब में स्वयं जन्म धारण करूंगा और उन लोगों को जो इस पल के लिए जिम्मेदार हैं, उनको दंडित करूंगा और इस धर्म की पूर्ण स्थापना करूंगा।'

भगवतगीता की स्थिति इस प्रकार है। तब *गीता* और *मनुस्मृति* में क्या अंतर है? संक्षेप में *गीता* ही मनुस्मृति है। जो मनुस्मृति से दूर भागकर *गीता* में शरण लेना चाहते हैं या तो वे *गीता* जानते ही नहीं अथवा *गीता* की उस आत्मा को ही, जो उसे *मनुस्मृति* के बहुत नजदीक लाती है, अपने विचार से हटा देना चाहते हैं।

वेद और *भगवतगीता*, दोनों की शिक्षा की हम *मनुस्मृति* की उस शिक्षा के साथ तुलना करते हैं, जो मैंने हिंदू धर्म का दर्शन स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के रूप में की है। इन दोनों में भी क्या अंतर है? इन दोनों में केवल एक ही अंतर है, वेद तथा भगवतगीता में एक सर्वसाधारण सिद्धांत का विचार है, जब कि *मनुस्मृति* में उस सिद्धांत की विशेषताएं तथा अन्य विस्तारित बातों को स्पष्ट करने पर ध्यान दिया गया है। लेकिन जहां तक मनुस्मृति, वेद तथा भगवतगीता के सार के संबंध है, ये सभी एक ही नमूने पर बुने गए हैं। इन सभी के भीतर एक ही प्रकार का धागा चलता है और वास्तव में वह सभी एक ही वस्त्र के हिस्से हैं।

इसका कारण भी स्पष्ट है। ब्राह्मण, जो कि उपनिषद के अलावा लगभग संपूर्ण हिंदू धर्म साहित्य के लेखक थे, उन्होंने उनके द्वारा रचित सिद्धांतों को स्मृति, वेद तथा भगवतगीता इन सभी में अंतभूर्त करने की उत्तम सावधानी बरती। इसलिए हिंदू धर्म का दर्शन एक जैसा ही होगा, चाहे हम *मनुस्मृति* अथवा *वेद* अथवा *भगवतगीता* को हिंदू धर्म के उपदेश के रूप में लेते हैं।

दूसरा, ऐसा कहा जा सकता है कि *मनुस्मृति* कानून की एक पुस्तक है और वह नैतिक आचार-संहिता नहीं है तथा हिंदू धर्म के दर्शन के रूप में, मैंने यहां जो-कुछ भी प्रस्तुत किया है, वह केवल कानून का दर्शन है और वह हिंदू धर्म का नैतिक दर्शन नहीं है।

ऐसा मानने वाले के लिए मेरा उत्तर बहुत सरल है। मेरी यह धारणा है कि हिंदू धर्म में उसका कानूनन दर्शन तथा उसका नैतिक दर्शन, इन दोनों में कोई भेद नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि हिंदू धर्म में वैधानिक तथा नैतिक दोनों में भी कोई अंतर नहीं है तथा जो बात वैधानिक है, वही बात नैतिक भी है।

मेरी इस धारणा के समर्थन के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। हम *ऋग्वेद* के धर्म शब्द का अर्थ[1] लेते हैं। 'धर्म' शब्द *ऋग्वेद* में 58 बार मिलता है। उसका प्रयोग छह भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। इसका प्रयोग (1) प्राचीन तथा (2) कानून, (3) कोई भी ऐसी व्यवस्था जो समाज में कानून तथा व्यवस्था बनाए रखती है, (4) निसर्ग का मार्ग, (5) किसी पदार्थ की उत्तमता, और (6) उत्तम तथा बुरे लोगों के कर्तव्य, इन बातों को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि धर्म शब्द को हिंदू 'धर्म' में दो प्रकार के अर्थ से प्रारंभ से ही प्रयोग किया जा रहा है। यह एक कारण है कि हिंदू धर्म के दर्शन वैधानिक दर्शन, और नैतिक दर्शन में किसी प्रकार का भेद क्यों नहीं है।

1. यह पैरा श्री यशबंत रामकृष्ण डाटे के इस विषय पर लेख से लिया है जो मराठी पत्रिका '*स्वाध्याय* नं. 7, 8, प्रथम वर्ष के पृ. 18-21 पर प्रकाशित है।

इससे हम ऐसा नहीं कह सकते है कि हिंदुओं में कोई नैतिक आचार-संहिता नहीं है। निश्चित रूप से उनमें ऐसी आचार-संहिता है। परंतु यह बहुत ही उचित होगा कि हम उन आचरण के नियमों की प्रकृति तथा स्वरूप जान लें, जिन्हें हिंदू नीतिक शास्त्र नैतिक कहते हैं।

हिंदू जिसे नैति मानते हैं, उस आचार-संहिता का स्वरूप जानने के लिए यह उचित होगा कि हम अपना कार्य यह मानकर आरंभ करें कि समाज में आचरण[1] के तीन स्तर होते हैं, जिनमें फर्क करना आवश्यक है। (1) मूलभूत आवश्यकताओं तथा स्वभाव से निर्मित होने वाला आचरण, (2) समाज के नियमों से नियंत्रित आचरण, और (3) व्यक्तिगत विवेक बुद्धि से नियंत्रित आचरण। पहले स्तर के आचरण को हम नैतिक आचरण नहीं कहते हैं। वह अनैतिक भी नहीं है। यह आचरण उन शक्तियों द्वारा नियंत्रित होता है, जो अपने उद्देश्य में नैतिक नहीं होती, परंतु परिणामों के लिए मूल्यवान होती है यह शक्तियां शारीरिक सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक होती हैं। इनका एक निश्चित उद्देश्य होता है, जैसे कि भूख मिटाना अथवा शत्रु के विरोध में शस्त्र उठाना। परंतु लक्ष्य वह होता है जो हमारे शारीरिक, अथवा स्वाभाविक रूप से निर्धारित किया जाता है और जब तक इसको केवल एक न टालने की बात मानकर चलते हैं और उसकी तुलना अन्य कीमती तथा स्वीकृत बातों से नहीं करते, तब तक वह उचित रूप से नैति नहीं मानी जा सकती है। दूसरे स्तर का आचरण निस्संदेह सामाजिक है। जहां-जहां मनुष्य गुट बनाकर रहते हैं, वहां-वहां उनके कार्य करने के कुछ निश्चित मार्ग होते हैं जो उस गुट के लिए समान-रूप से लागू होते हैं और वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते हैं इन स्वीकृत तौर-तरीकों को उस गुट की लोक-नीति या नैतिकता कहा जाता है। उन नियमों का पालन करना, यही उस गुट का निर्णय है, ऐसा माना जाता है। उस गुट का कल्याण उनके साथ संबद्ध है, ऐसा माना जाता है। प्रत्येक कोई व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह उनका पालन करे और व्यक्ति उनके विपरीत आचरण करता है, तब उसे यह महसूस कराया जाता है कि गुट को यह बात मंजूर नहीं है इस आचरण को हम सही अर्थ में नैतिक आचरण नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसमें अंतिम उद्देश्य को समाज द्वारा निर्धारित श्रेष्ठ मानक माना गया है। यदि उसे नैतिक कहा गया है तो इसलिए क्योंकि वह समाज की नैतिकता और लोक-नीति के अनुरूप है इसे पारंपरिक रूप से तो नैमि कहा जा सकता है। तीसरे स्तर का जो आचरण है उसे ही केवल सही अर्थ तथा संपूर्ण रूप में नैतिक कहा जा सकता है ऐसा इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रकार से एक व्यक्ति उचित बात को मानता है अथवा उत्तम बात को स्वीकार करता है और उसकी पूर्ति के लिए मुक्त रूप से पूरी लगन से कार्य करता है, वह व्यक्ति किसी बात को केवल इसलिए

---

1. इसमें मैंने पूर्णतः 'क्राउले एवं तुफ्तृस' की व्याख्या का अनुगमन किया है जो उन्होंने अपनी नीति विषयक पुस्तक में दी है।

नहीं मानता है क्योंकि वह अटल है अथवा उसका पालन इसलिए नहीं करता क्योंकि उसे समाज की मान्यता है। पर व्यक्ति अपने ध्येय का स्वयं चयन करता है और उसे महत्वपूर्ण मानकर उसके लिए स्वयं को जिम्मेदार ठहराता है उसकी नैतिकता विचारों से संबंधित होती हैं।

इन तीन स्तरों में से किस स्तर पर हिंदुओं की नैतिकता अधिष्ठित है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनकी नैतिकता तीसरे स्तर पर स्थित नहीं। इसका अर्थ यह है कि हिंदू सामाजिक है। किन्तु सही अर्थों में नैतिक नहीं हैं जिन उद्देश्यों को वह प्राप्त करता है उनकी वही जिम्मेदारी नहीं लेता। वह स्वेच्छा से समाज का एक साधन बन जाता है और अनुसरण करने में ही संतोष पाता है। वे अपने समाज से बिना किसी भय के अपना अलग मत व्यक्त करने के लिए मुक्त नहीं है। पाप से संबंधित उसकी जो धारणाएं है, वे उसके अनैतिक चरित्र का एक निश्चित प्रमाण है। विष्णुपुराण में पापकर्मो की एक सूची आती है, जो नौ वर्गो में विभाजित है:

(1) अतिपातक (घोर पाप) निकट संबंधियों के साथ व्यभिचार जिसके लिए आत्मदहन जैसे प्रायश्चित व्यवस्था का विधान है।

(2) महापातक (बड़ा पाप) ब्राह्मण की हत्या, पूजा विधि जल को पीना, ब्राह्मण के 'सवर्ण अलंकारों की चोरी, गुरु, पत्नी के साथ यौन संबंध और इसके साथ ही ऐसे पाप करने वालों के साथ सामाजिक संबंध रखना।

(3) अनुपातक (छोटे इसी प्रकार के पाप) इनमें कुछ अन्य वर्गो के लोगों की हत्या, झूठे साक्ष्य देना और मित्र की हत्या, संबंध और ब्राह्मण की जमीन अथवा संपत्ति की चोरी करना तथा कुछ विशेष प्रकार यौन संबंध और व्यभिचार आदि का समावेश होता है।

(4) उपपातक (छोटे पाप) झूठा ब्यान देना, कुछ विशेष धार्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा करना व्यभिचार, गैर कानूनी कब्जा, बड़े भाई से पहले विवाह करने का अपराध, देवता तथा पितरात्मा के प्रति उत्तरदायित्व न निभाना तथ नास्तिक होना आदि।

(5) जाति ब्रह्मसंकर (जाति खोने का पाप) ब्राह्मण को शारीरिक वेदना पहुंचाना, ऐसी वस्तुओं को सूंघना जिन्हें नहीं सूंघना चाहिए, कुटिल व्यवहार करना तथा कुछ अस्वाभाविक अपराध करना।

(6) सामकरीकरण (वर्ग संकर जाति में पतन होने वाले पाप) जंगली अथवा पालतू जानवरों की हत्या।

(7) आपवित्रकरण (ऐसे पाप, जो किसी को भिक्षा ग्रहण योग्य नहीं मानते) नीचे व्यक्ति से भिक्षा ग्रहण करना और भेंट-वस्तु स्वीकार करना। शूद्र की सेवा करना, उसके साथ रहना, उसे पैसा उधार देना और उसके साथ व्यापार करना।

(8) मलवाह (ऐसे पाप जो अपवित्र बनाते हैं) पक्षी, जलचर प्राणी, कीटाणु

तथा कीड़ों की हत्या करना ऐसे फल अथवा वनस्पति खाना जिससे मद्यपान के समान नशा हो जाता है।

(9) प्रकीर्ण (मिले जुले) ऐसे सभी पाप-कर्म जिनका ऊपर के प्रकारों में समावेश नहीं है।

पापों की यह पूरी सूची नहीं है परंतु निश्चित ही वह एक लंबी तथा विस्तृत सूची है जो हिंदु के पाप की धारणाओं के बारे में हमें पर्याप्त जानकारी देती है। प्रथम स्थान पर वह मनुष्य का उसकी सुनिर्धारित आचार-संहिता के पतित होने का अर्थ व्यक्त करती है। दूसरे स्थान पर उसका अर्थ है, मनुष्य का अस्वच्छ होकर अपवित्र बन जाना। पातक शब्द का मूल अर्थ भी यही है। इसका मतलब है, पतन होना और अस्वच्छ होना। दोनों ही मामलों में हिंदु धारणा के अनुसार पाप आत्मा का रोग है। पहले अर्थ में वह केवल बाहरी आचरण के नियम का उल्लंघन है। दूसरे अर्थ में शरीर का अपवित्र होना, जिसे धार्मिक यात्रा अथवा यज्ञदान दोनों के द्वारा भी स्वच्छ तथा पवित्र बनाया जा सकता है। परंतु आत्मा का अपवित्र होना, जो बुरे विचार तथा उद्देश्यों के कारण होता है, इस अर्थ से यह धारणा कभी भी नहीं रही।

इस बात से स्पष्ट है कि हिंदुओं की नैतिकता केवल सामाजिक है। इसका अर्थ यह है कि उनकी नैतिकता का स्तर पूर्ण रूप से पारंपरिक तथा औपचारिक है। इस नैतिकता के दो हानिकारक पहलू हैं। प्रथम स्थान पर, यह बात निश्चित नहीं है कि इसे हमेशा ईमानदारी और पवित्रता की प्रेरणा से आवेशित किया जाएगा। क्योंकि यह बात तभी हो सकती है जब नैतिकता किसी व्यक्ति की भावना तथा उद्देश्य में बहुत गहरा प्रवेश करती है और जिसके कारण मानवीय आचरण में किसी प्रकार का बहाना करने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। दूसरे स्थान पर व्यावहारिक नैतिकता मनुष्य के लिए एक प्रकार के रुकावट तथा अपने वहाव में खींचने की शक्ति दोनों ही हैं। वह आम आदमी को रोकने का काम करती है और जो लोग आगे बढ़ना चाहते हैं उन्हें भी किसी पानी के जहाज के समान लंगर के पीछे जकड़ कर रखने का कार्य करती है। औपचारिक नैतिकता केवल नैतिक स्थिरता का ही दूसरा नाम है। जहां-जहां औपचारिक नैतिकता ही एकमात्र नैतिकता है, उन सभी मामलों में यही बात लागू होती है। परंतु हिंदुओं की औपचारिक नैतिकता गुण-सम्पन्न आचरण का एक और भी दुष्ट पहलू है जो उसकी विशेषता है व्यावहारिक नैतिकता गुण आचरण की बात है। सामान्यत: गुण-संपन्न आचरण ऐसा होना चाहिए जो सर्वसाधारण अथवा सार्वजनिक दृष्टि से उत्तम हो। परंतु हिंदु धर्म में गुण-संपन्न आचरण का ईश्वर की पूजा अथवा समाज का सर्वसाधारण हित, इनके साथ कोई संबंध नहीं है। हिंदु धर्म में गुण-संपन्न आचरण का संबंध ब्राह्मण के प्रति आदर-सम्मान व्यक्त करने तथा उसे दक्षिणा देने से है। महामानव ‌द्धब्राह्मणत्रृ की पूजी करना, यही हिंदू नीति शास्त्र है।

ऐसी स्थिति में, यदि मैं हिंदू नीति-शास्त्र को भी हिंदू धर्म के दर्शन का अनुमान करने के लिए आधार बनाता हूं, तब भी क्या फर्क पड़ता है? हिंदू धर्म के अधिकांश छात्र यह बात भूल जाते हैं कि जिस प्रकार हिंदू धर्म में कानून और धर्म में कोई अंतर नहीं है, इसी तरह कानून और नीति-शास्त्र, दोनों में कोई अंतर नहीं है। दोनों का संबंध एक ही बात से है। वह बात यह है कि निम्न स्तर के हिंदुओं के आचरण को नियंत्रित करना, ताकि वे श्रेष्ठ हिंदुओं के उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें।

तीसरे, यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मैंने उपनिषद जो कि हिंदू दर्शन का सही स्रोत है, उस पर विचार न करके, हिंदू धर्म के दर्शन का बिल्कुल ही झूठा चित्र प्रस्तुत किया है।

मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि मैंने उपनिषदों पर विचार नहीं किया है। लेकिन इसके लिए मेरे पास कुछ कारण हैं और मेरा यह विश्वास है कि ऐसा न करने के वह बहुत ठोस कारण हो हिंदू धर्म दर्शन से मेरा संबंध धर्म के दर्शन के एक भाग के रूप में है। मेरा संबंध हिंदू दर्शन से नहीं है। यदि मेरा संबंध हिंदू दर्शन से होता, तब मेरे लिए आवश्यक हो जाता है कि मैं उपनिषद की छानबीन करूं। परंतु फिर भी उपनिषद की छानबीन करने के लिए मैं तैयार हूं क्योंकि मैं यह संदेह नहीं रखना चाहता हूं कि जिसे मैंने हिंदू धर्म का दर्शन बताया है, वही वास्तव में उपनिषद का दर्शन भी है।

उपनिषद का दर्शन बहुत ही कम शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। इक्सले द्वारा इसे बहुत ही संक्षेप में उत्तम ढंग से व्यक्त किया गया है।[1] वह कहता है उपनिषद दर्शन इस बात से सहमत है कि –

> ''मन के अथवा किसी वस्तु के हृदय स्वरूप में होने वाले क्रमिक बदलाव के सूत्र के अंतर्गत छुपी हुई स्थायी वास्तविकता अथवा पदार्थ के अस्तित्व को समझने में ही उपनिषद दर्शन का सार है। विश्व का सारभूत पदार्थ है ब्रह्मा और व्यक्ति की 'आत्मा' और ब्रह्मा तथा आत्मा दोनों भी एक दूसरे के केवल उनकी अभिव्यक्ति, भावना, विचार, इच्छाएं, सुख तथा दुख के कारण अलग हैं, जिसके कारण जीवन का भ्रामक मायाजाल खड़ा होता है जो लोग अज्ञानी होते हैं, वे उसे ही सच्चाई मानते हैं। इसलिए उनकी आत्मा नित्य भ्रांतियों से घिरी रहती है, जो अपनी इच्छाओं के बंधनों में जकड़ कर दुख-यातनाओं की सजा सहन करते हैं।''

उपनिषद के ऐसे दर्शन का भला क्या उपयोग है? उपनिषद के दर्शन का मतलब है स्वचेतना के विनाश द्वारा अपनी इच्छाएं नष्ट करके तथ संन्यास लेकर जीवन के

1. *इवोल्यूशन एंड ऐथिक्स*, पृ. 63
2. *इवोल्यूशन एंड ऐथिक्स*, पृ. 64

अस्तित्व के संघर्ष के पीछे हटना। जीवन-पद्धति के रूप में हक्सले[2] ने उसकी बहुत ही कठोर शब्दों में आलोचना की है :

> "भारतीय संन्यासियों-तपस्वियों ने तपश्चर्या द्वारा शारीरिक रूप से जितना कष्ट सहा उसका अन्यत्र उदाहरण कठिन है। आधुनिक युग की किसी भी संन्यासी मठवादी प्रथा ने मानवीय मन को निर्विकार निंद्रित अवस्था की उस हद तक नहीं गिराया, जो उसकी सर्वमान्य पतिवत्रता का पागलपन की भावना से भर जाने का खतरा उत्पन्न करती हो।"

परंतु उपनिषद के दर्शन की यह आलोचना लाला हरदयाल[3] ने उसकी जो सार्वजनिक भर्त्सना की है, उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है, वे कहते हैं –

> "उपनिषद यह दावा करता है कि उसके ज्ञान से प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। परिपूर्णता की यह लालसा ही भारत के कृत्रिम अध्यात्मवाद का आधार बन गई है। उपनिषद के यह लेख मूर्ख विचार, असंगत कल्पनाएं तथा भ्रमित करने वाले अनुमानों से भरे हैं और हमने यह बात नहीं समझी कि यह सभी निरर्थक हैं। हम पुराने ही रास्तों पर चल रहे हैं। हम अत्युत्तम यूरोपीयन सामाजिक विचारों का अनुवाद करने के स्थान पर, इन्हीं पुरानी किताबों का संपादन करते रहते हैं। यदि फ्रेडरिक हेरीमन, ब्रयूक्स, बेबेल एनातोले फ्रांस, हार्वे, हाईकाल, जीडिग्स और मार्शल अपना समय डुंस, स्कोटस और थामस एक्वीनस आदि के निबंधों की पुनर्रचना और पेंटाटियूय का कानून तथा बिओवुल्फ की कविता की गुण-संपन्नता की चर्चा करने में बिताते, तब यूरोप की स्थिति कैसी रहती? भारतीय विद्वानों तथा बुद्धिजीवियों की जो बातें निरर्थक तथा पुरानी हैं, उनके प्रति एक प्रकार का पागल मोह है। इस प्रकार विकासशील मनुष्यों द्वारा स्थापित संस्थाएं अपने युवकों को वेदों के माध्यम से संस्कृत व्याकरण की शिक्षा देने का उद्देश्य रखती हैं। बुद्धिमानी प्राप्त करने की लालसा में यह कितना गलत कदम है। यह ऐसा प्रयास है, जैसे कोई कारवौं किसी रेगिस्तान से ताजे पानी की खोज में भरे हुए समुद्र के किनारे की ओर चले जा रहा है। भारत के नवयुवकों, अपने दुर्गंधयुक्त आध्यात्मिक ग्रंथों में बुद्धिमत्ता देखने का प्रयास न करो। इनमें शब्दों की अंतहीन कसरत के अलावा कुछ भी नहीं है। राझायू और वोल्टेयर, प्लेटों और एरीस्टोटल, हाइकल और स्पैंसर, मार्क्स और टालस्टाय, रस्किन और कौमटे तथा उसकी समस्याओं को समझना चाहते हैं।"

---

3. *मार्डन रिव्यू, जुलाई,*

परंतु, आलोचना को दूर रखें, तब क्या हिंदू धर्म पर सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के रूप में उपनिषद के दर्शन का कोई प्रभाव है? इस बात में कोई संदेह नहीं है कि उपनिषद दर्शन के हिंदुओं की सामाजिक और नैतिक व्यवस्था पर कोई भी प्रभाव न होने की दृष्टि से यह बहुत ही प्रभावहीन तथा परिणाम शून्य ही रहा है।

इस दुर्भाग्यपूर्ण नतीजे के कारणों को जानना इस स्थान पर अनुचित नहीं होगा। एक कारण बिल्कुल स्पष्ट है। उपनिषद का दर्शन अपूर्ण ही रहा और इसके कारण उससे कोई परिणाम प्राप्त नहीं हो सका, जो होना चाहिए था। यह बात तब पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाती है यदि हम यह पूछें कि उपनिषद की क्या प्रमुखता है। प्रो. मैक्समूलर[1] के शब्दों में उपनिषद का मूल स्वर है 'स्वयं को पहचानों'। उपनिषद का 'स्वयं को पहचानों'' का मतलब है, 'सत्य क्या है, उसे जान लो, जो तुम्हारे अहंकार के नीचे दबा हुआ है, और उसे प्राप्त करो तथा उसे उसके श्रेष्ठतम तथा नित्य रूप में जानो। वह ऐसा एक है जिसके समान कोई दूसरा नहीं है, और यही संपूर्ण विश्व की अंतर्मन भावना है।'

आत्मा और ब्रह्म एक है, यह एक सच्चाई है, एक महान सत्य है जो उपनिषदों ने कहा कि उन्होंने खोज निकाला और इसलिए उन्होंने मनुष्य से कहा कि वे उसे जानें। अब उपनिषद का दर्शन परिणाम शून्य क्यों रहा, इसके अनेक कारण हैं। उसकी चर्चा किसी अन्य स्थान पर करना चाहूंगा। परंतु इस स्थान पर मैं केवल एक ही कारण का उल्लेख करता हूं। उपनिषद के तत्ववेत्ता यह बात नहीं समझ सके कि केवल सत्य को जानना ही पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को सत्य से प्रेम करना भी सीखना चाहिए। दर्शन और धर्म में जो भेद है, वह दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। दर्शन का संबंध सत्य को जानने के साथ होता है। धर्म का संबंध सत्य पर आस्था करने के साथ होता है। दर्शन अपरिवर्तनय होता है। परंतु धर्म परिवर्तनशील होता है। यह भिन्नताएं एक ही वस्तु के केवल दो पहलू हैं। दर्शन अपरिवर्तनीय होता है। क्योंकि वह केवल सत्य जानने से ही संबंधित है। धर्म परिवर्तनीय है क्योंकि वह सत्य पर आस्था करने से संबंधित है, जैसा कि मैक्सप्लोमन[2] ने उत्तम प्रकार से स्पष्ट किया है :

> ''.........जब तक कि धर्म परिवर्तनशील नहीं रहता और किसी वस्तु के लिए हममें प्रेम भावना उत्पन्न नहीं करता है, हमें उस वस्तु के बिना रहना ही उत्तम होगा, जिसे हम धर्म कहते हैं क्योंकि धर्म सत्य की दृष्टि है और यदि हमारी सत्य की दृष्टि के साथ उसके प्रति प्रेम की भावना नहीं रहती है, तब हमारे लिए यही उत्तम होगा कि हम उस दृष्टि को ही न प्राप्त करें। बुरा

1. *हिब्बर्ट लेक्चर,* 1878, पृ. 317
2. *दि नेमिसिस ऑफ इन्इफैक्चुअल रिलीजन,* अडेल्फी, जनवरी, 1941

> मनुष्य वही होता है, जिसने सत्य को केवल उसका तिरस्कार करने के लिए देखा है। टेलीसन ने कहा है, 'जब हम किसी को देखते हैं, तब उस पर अत्यधिक प्रेम करना चाहिए।' परंतु ऐसा नहीं होता है। इस बात को उसकी वस्तुपरकता से देखते हुए जो श्रेष्ठ होता है, वह उसकी भिन्नता तथा अंतर के कारण चमकता है जिससे हम भयभीत हो जाते हैं, और जिससे हम डरते हैं, उससे घृणा करने लगते हैं।''

सभी लोकोत्तर दर्शनों की यही नियति है। उनका जीवन के मार्ग पर कोई प्रभाव नहीं रहता। जैसा ब्लेक ने कहा है, 'धर्म राजनीति है और राजनीति बंधुत्व है' दर्शन को धर्म बनाना आवश्यक है। इसका मतलब है कि उसे कार्यरत नीति-शास्त्र बनना चाहिए। वह केवल अध्यात्मवाद नहीं रहना चाहिए। जैसा प्लामन ने कहा है –

> 'यदि धर्म एक अध्यात्मवाद बनकर रह जाए और उसके अलावा कुछ भी नहीं, तब एक बात निश्चित है कि उसका सीधे तथा सामान्य मनुष्यों के साथ कोई संबंध नहीं होगा।
>
> ''धर्म को पूर्ण रूप से अध्यात्मवाद की पकड़ में रखने का मतलब है, उसे मूर्खता का विषय बनाना। क्योंकि जिस प्रकार हम किसी ऐसी बात में जो प्रत्यक्ष तथा सजीव रूप से राजनीति में परिणामकारक नहीं है, विश्वास करते हैं उसी प्रकार अंततः धर्म में विश्वास करना भी कठोर शब्दों में एक मूर्खता ही है, क्योंकि किसी परिणामकारक अर्थ से ऐसा विश्वास किसी प्रकार का फर्क नहीं करता और समय तथा आकांक्षा की इस दुनिया में जो बात कोई फर्क नहीं कर सकती, वह अस्तित्वहीन ही होती है।''

इन्हीं कुछ कारणों के कारण उपनिषद का दर्शन परिणामशून्य साबित हुआ।

इसलिए यह बात निर्विवाद है कि हिंदु नीति-शास्त्र और उपनिषदों के दर्शन के बावजूद, मनु द्वारा उद्घोषित हिंदू धर्म के दर्शन से एक बिंदी अथवा बहुत ही मामूली सी बात भी नहीं मिटाई जा सकी। मनु ने धर्म के नाम पर जो कलंकित शिक्षा दी, उसे नष्ट करने के लिए वे बहुत ही परिणामशून्य तथा शक्तिहीन थे और उनके अस्तित्व के होते हुए भी हम यह भी कह सकते हैं कि –

हिंदू धर्म तेरा नाम असमानता है।

VI

असमानता, हिंदू धर्म की आत्मा है। हिंदू धर्म की नैतिकता केवल सामाजिक है। कम-से-कम यह बात निश्चित है कि यह नैतिकता तथा मानवता से असंबद्ध है और जो बात नैतिकता तथा मानवता से असंबद्ध होती है, वह बात आसानी से अनैतिक,

अमानवीय तथा कुख्यात बन जाती है। आज हिंदू धर्म ऐसा ही कुछ बन गया है। जो लोग इस बात पर संदेह करते हैं अथवा इस धारणा को नकारते हैं उन लोगों को हिंदू समाज की सामाजिक रचना की समीक्षा करनी चाहिए और उसके साथ ही उस रचना के कुछ तत्वों का वर्तमान स्थिति पर चिंतन करना चाहिए। हम कुछ निम्नलिखित उदाहरण लेते हैं।

पहले हम आदिवासी कबीले समाज की ओर देखें। सभ्यता की किसी अवस्था में वे जीवन व्यतीत कर रहे हैं?

मानवीय सभ्यता के इतिहास में मानव विकास के जंगलीपन से लेकर बर्बरता तक और बर्बरता से लेकर सभ्यता तक सभी अवस्थाओं का समावेश है। उसकी एक अवस्था में जो परिवर्तन हुआ है, वह परिवर्तन सदा ही ज्ञान की अथवा कला की किसी न किसी शाखा में कोई खोज अथवा आविष्कार के साथ हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य उन्नति की ओर बढ़ा।

किसी स्पष्ट भाषा का विकास होना पहली चीज थी जो मानव विकास की दृष्टि से पहली महत्वपूर्ण बात थी, जिसने मनुष्य को असभ्य मनुष्य से अलग किया यह असभ्यता पहली अवस्था को प्रकट करती है। असभ्यता की मध्यावस्था उत्पादन के ज्ञान से तथा अग्नि के उपयोग से आरंभ हुई। इस अद्भुत खोज के कारण मनुष्य अपने निवास स्थान के अनिश्चित सीमाओं तक बढ़ाने योग्य बन गया। वह अपना जंगल का घर छोड़कर विभिन्न स्थानों पर तथा सर्द वातावरण में जाने लगा और उसने अपनी भोजन सामग्री में मांस-मछली का समावेश करके बढ़ोतरी की। उसकी अगली खोज थी, तीर और कमान की। आदिमानव की यह सबसे बड़ी उपलब्धि थी और जंगली मनुष्य के विकास की यह चरम अवस्था है। वास्तव में वह एक अद्भुत औजार था। इस हथियार को धारण करने वाला, सबसे गतिमान पशु की हत्या भी कर सकता था तथा किसी भी हिंसक पशु से अपनी रक्षा भी कर सकता था।

जंगलीपन से बर्बरता की अवस्था मिट्टी के बर्तनों की खोज से आरंभ हुई। तब तक मनुष्य के पास ऐसे कोई बर्तन नहीं थे, जो आग से नष्ट नहीं हो सकते थे। बर्तनों के बिना मनुष्य न तो खाना पका सकता था और न किसी वस्तु का संग्रह कर सकता था। निस्संदेह मिट्टी के बर्तनों का संस्कृति के निर्माण पर बड़ा ही प्रभाव रहा।

बर्बरता की मध्य अवस्था तब आरंभ हुई, जब मनुष्य ने हिंसक पशुओं को पालतू बनाना सीखा। मनुष्य ने यह बात जान की कि पालतू जानवर उसके लिए उपयोग हो सकते हैं। अब मनुष्य चरवाहा बन गया और फिर वह भोजन के लिए हिंसक पशुओं का खतरनाक स्थिति में पीछा करने पर निर्भर नहीं रहने लगा। सभी ॠतुओं में दूध की उपलब्धि ने उसकी खाने-पीने की वस्तुओं में बहुत ही महत्वपूर्ण बढ़ोतरी की। घोड़े तथा

ऊंटों की सहायता से वह दूर–दूर तक सफर करने लगा था जो अब तक उसके लिए असंभव था। पालतू जानवर उसके लिए व्यापार में सहायक बन गए, जिसके कारण वह अपनी वस्तुओं का तथा अपने विचारों का भी आदान–प्रदान करने लगा।

उसके बाद की खोज थी, लोहे को गलाकर उसकी वस्तुएं बनाने की कला। जंगलों में रहने वाले मनुष्यों की उन्नति में यह एक बहुत ही उच्चतम अवस्था है। इस खोज के साथ मनुष्य एक प्रकार से 'औजार बनाने वाला प्राणी' बन गया, जो अपने औजारों से लकड़ी तथा पत्थर को विभिन्न प्रकार देने लगा और मकान तथा पुल बनाने लगा।

और इसके साथ ही जंगल में रहने वाले मनुष्य ने जो उन्नति की, उसकी अंतिम अवस्था का अंत होता है।

'सभ्यता', इस शब्द के परिपूर्ण अर्थ से एक सभ्य मनुष्य को जंगली मनुष्य से अलग करने वाली रेखा वहां से उभरती है, जहां कल्पनाओं का चित्रांकित चिन्हों के माध्यम से एक–दूसरे को समझाने की कला का उदय हुआ, जिसे लिखने की कला कहा जाता है। इस कला को साथ मनुष्य ने समय पर विजय प्राप्त कर ली, जैसे कि पहले की खोजों से उसने अंतराल पर विजय प्राप्त की थी। अब वह अपनी कृतियां तथा विचारों को लिखने लगा। इसके बाद, उसका ज्ञान, उसके सुहाने सपने, उसकी नैतिक आकांक्षाएं ऐसे आकार में लिखना संभव हो गया, जो न केवल उसके समकालीन, बल्कि उसके बाद आने वाली सभी पीढ़ियां पढ़ सकें। मनुष्य के लिए उसका इतिहास एक सुरक्षित और संरक्षित बन गया। यह चरम परांकाष्ठा सभ्यता के प्रारंभ का प्रतीक है।

अब हम यहां रूककर यह बात पूछना चाहेंगे कि हमारे आदिवासी जन सभ्यता की किस अवस्था में जी रहे हैं।

आदिवासी[1] नाम ही उनकी वर्तमान अवस्था को स्पष्ट करता है, जिन लोगों को उस नाम से पुकारा जाता है वे जंगलों में छोटी–छोटी बिखरी झोंपड़ियों में रहते हैं। वे जंगली वनस्पति तथा फूल–पतियां खाकर जीते हैं। भोजन प्राप्त करने के उद्देश्य से वे मछली पकड़ते अथवा शिकार करते हैं। उनकी सामाजिक अर्थव्यवस्था में खेती को बहुत ही गौण स्थान प्राप्त है। अन्न प्राप्त करना, यह एक बहुत ही संकट की बात होने के कारण वे लगभग भुखमरी का जीवन ही व्यतीत करते हैं, जिससे कोई मुक्ति नहीं है। जहां तक कपड़ों का संबंध है, वे उसका इतना कम उपयोग करते हैं कि कपड़े उनके शरीर पर लगभग नहीं के बराबर ही होते हैं। वे लगभग नग्न अवस्था

---

1. यह तथा अन्य सूचना '*भारती की जनगणना*', 1931 के प्रथम भाग से ली गई है।

में ही रहते हैं। एक आदिवासी जाति का नाम 'बोंडा पोराज' है। इसका अर्थ है 'नग्न पोरजस'। ऐसा कहा जाता है कि इन लोगों में औरतें बहुत ही संकीर्ण वस्त्र का एक टुकड़ा पहनती हैं जो ढंकने के लिए लहंगे का कार्य करता है। उनका यह वस्त्र असम के मामजाक नागा आदिवासी लोगों के वस्त्र के समान है, जिसके दोनों सिरे ऊपर कमर के साथ बहुत ही कठिनाई से मिलते हैं। यह लहंगे जैसा वस्त्र जंगली पेड़ों के धागे से घर पर ही औरतें बना लेती हैं। लड़कियां गुटकों की मालाएं पहनती हैं जो कि लगभग मौमजाक आदिवासी स्त्रियों से मिलती-जुलती है। अन्यथा औरतें कुछ भी नहीं पहनतीं। औरतें अपने सारे सिर के बालों को मुंडन करती हैं। इन आदिवासियों में निजाम के राज्य में फराहाबाद के पास रहने वाली एक चैन्चू नाम की आदिवासी जाति है। ऐसा कहा जाता है कि उनके मकान शुकु के आकार के बांस के बने हाते हैं, जिसमें एक मध्यबिंदु से धलान होती है, जो घास की बहुत ही बारीक तह से ढकी होती है। उनके पास वस्तुओं के नाम पर कुछ भी नहीं अथवा बहुत ही कम चीजे होती हैं। वे बहुत ही कम वस्त्र पहनते हैं पुरुष लंगोट बांधते हैं और औरतें छोटा-सा लहंगा और ब्जाऊज पहनती हैं। खाना पकाने के बहुत ही कम बर्तन होते हैं, अथवा दो टोकरियां होती हैं, जिनमें कभी-कभी खाने के कुछ दाने रखे होते हैं। ये गाय-बकरियां पालते हैं और इस विशेष गांव में कुछ खेती भी करते हैं। अन्य स्थानों पर वे जंगली वस्तुएं तथा मधु बेचकर ही अपना पेट पालते हैं। एक अन्य आदिवासी जाति मोरिया के बारे में कहा जाता है कि उनके पुरुष कमर में एक वस्त्र बांधते हैं, जिसका एक सिरा सामने लटका होता है। उनके बदन पर गुटकों की मालाएं भी होती हैं तथा जब वे नृत्य करते हैं, तब अपनी पगड़ी में मुर्गे अथवा मोर के पंख लगाते हैं। अनेक लड़कियां भारी मात्रा में विशेष रूप से चेहरे पर गोदना (शरीर पर गुदवाना) कराती हैं। उनमें से कुछ लड़कियां पैरों पर गोदन करती है। गोदन के प्रकार प्रत्येक लड़की की रुचि के अनुसार होते हैं और उसे कांटे तथा सुई से किया जाता है। अपने सिर के बालों में अनेक लड़कियां जंगली मुर्गे के पंख लगाती हैं और उसके साथ ही जूड़ों में लकड़ी, टीन अथवा पीतल की कंघी बांधती हैं।

इन आदिवासी कबीलों को कुछ भी खाने में, यहां तक कि कीड़े-मकौड़े खाने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं होती है और वास्तव में कोई भी ऐसा मांस नहीं है जो ये लोग न खाते हों, चाहे वह जानवर नैसर्गिक कारण से मरा हो अथवा चार-छह दिन अथवा उससे भी पहले किसी शेर द्वारा मारा गया हो।

इन लोगों का एक वर्ग अपराधी जातियां हैं।

जिस तरह आदिवासी जातियां जंगलों में रहती हैं, इसके विपरीत ये अपराधी जातियां सुगम प्रदेशों में बहुत ही नजदीक तथा प्रायः सभ्य समाज जीवन के बीच में रहती हैं। होलीयस ने अपनी किताब *संयुक्त प्रांत की अपराधी जातियां* में इन लोगों

की गतिविधियों की जानकारी दी है। वे संपूर्ण रूप से अपनी आजीविका अपराधों से ही पूरी करते हैं। उनमें से कुछ लोग प्रकट रूप से खेती करते हैं। परंतु यह केवल उनका सही व्यवसाय छुपाने के लिए ही है। हम उनकी बहुत-सी दुष्ट प्रथाएं, उनके द्वारा किए जाने वाली हिंसात्मक चोरी अथवा डकैती में देख सकते हैं। परंतु अपराध करने के लिए ही संगठित होने वाली जाति होने के कारण, उन्हें इन बातों में कुछ भी अनुचित नहीं लगता, किसी भी विशेष बस्ती में जब कोई डकैती डालना निश्चित हो जाता है, तब उचित शिकार का पता करने के लिए जासूस भेजे जाते है, ग्रामवासियों की आदतों का अध्ययन किया जाता है और साथ ही किसी अन्य गांव से कारगर सहायता प्राप्त करने की संभावना के लिए उस गांव की दूरी और वहां के लोगों की तथा हथियारों की संख्या आदि सभी बातों की जानकारी प्राप्त की जाती है। डकैती प्रायः मध्य रात्रि में होती है। जासूसों द्वारा दी गई जानकारी के आधार पर गांव के विभिन्न स्थानों पर लोग नियुक्त किए जाते हैं और ये लोग अपने हथियार चलाकर उनकी मुख्य टोली से लोगों का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करते हैं। तब यह मुख्य टोली उस विशेष पूर्व निर्धारित मकान अथवा मकानों पर हमला करती हैं। यह टोली बहुधा तीस अथवा चालीस आदमियों की होती है।

इन लोगों के सामान्य जन-जीवन में अपराध को महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, उस पर बल देना आवश्यक है। एक बच्चा जब चलने-फिरने तथा बोलचाल के योग्य हो जाता है, तभी से उसे अपराधी जीवन की दीक्षा दी जाती है। निस्संदेह इसके पीछे काफी हद तक एक वास्तविक उद्देश्य होता है कि बच्चे के लिए छोटी-छोटी चोरियां करने के लिए जोखिम उठाना अच्छा होता है, क्योंकि यदि वह बच्चा पकड़ा जाता है तब शायद उसे चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है। इस कार्य में औरतें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, जो यद्यपि वास्तविक रूप से डकैती में भाग नहीं लेतीं परंतु अनेक भारी जिम्मेदारियां निभाती हैं। चोरी का माल बेचने में बहुत चतुर होने के साथ-साथ अपराधी जातियों की यह औरतें दुकानों में रखी हुई वस्तुएं चुराने के कार्य में अति कुशल मानी जाती हैं।

किसी समय पिंडारी तथा ठग जैसे अनेक व्यावसायिक सुसंगठित संगठनों का इन अपराधी जातियों में समावेश होता था।

पिंडारी शस्त्रधारी लुटेरे का एक हिंसक संगठन था। उनका संगठन लुटरों का एक मुक्त सैनिक शस्त्रधारी संगठन था, जो बीस हजार और उससे भी अधिक अच्छे घोड़े एक समय पर रखते थे। वे एक डाकू मुखिया की आज्ञा में रहते थे। उनमें से बहुत शक्तिशाली लुटेरे चित्त नाम के एक मुखिया के पास दस हजार घोड़े थे जिनमें पांच हजार उत्तम घुड़सवार और उसके साथ ही पैदल सेना तथा बंदूकें होती थीं। पिंडारी लोगों के पास ऐसी कोई सैनिक योजना नहीं थी जिसके तहत वे अपने अनियमित

सैनिकों के मुक्त गुटों को भर्ती कर सकें ताकि ये लोग व्यावसायिक लुटेरों के संगठन बन जाएं। पिंडारी की महत्वाकांक्षा प्रदेश जीतने की नहीं होती थी। उनका लक्ष्य केवल अपने लिए लूटी संपत्ति तथा धन जमा करना ही होता था। साधारण लूट तथ डाका ही उनका व्यवसाय था। वे कोई नियम नहीं मानते थे, वे किसी के भी अधीन नहीं थे। उनकी किसी के प्रति कोई राजभक्ति नहीं थी। वे किसी का आदर नहीं करते थे और ऊंच-नीच, गरीब सभी लोगों को बिना किसी डर अथवा भेद के लूटते थे।

ठग लोग व्यावसायिक हत्यारों का एक सुसंगठित संगठन था[1], जिसमें 10 से 100 तक लोगों की टोलियां होती थीं, जो विभिन्न भेष में सारे भारत में भ्रमण करती थीं। ये लोग धनवान वर्ग के यात्रियों का विश्वास प्राप्त करते थे और उसके बाद उचित अवसर देखकर उनके गले में रूमाल अथवा फंदा डालकर उनकी गला घोंटकर हत्या करते थे और फिर बाद में उनको लूटकर दफना देते थे। यह सब-कुछ किसी विशेष प्राचीन तथा निश्चित संस्कारों के अनुसार और विशेष धार्मिक विधि की पूर्ति के बाद किया जाता था, जिसमें लूट के माल का पवित्रीकरण संस्कार तथा मीठी वस्तु की आहुति दी जाती थी। वे लोग संहार की हिंदुओं की 'काली' देवी के कर्मठ उपासक थे। लाभ के लिए हत्या करना उनके लिए एक धार्मिक कर्तव्य था और उसे पवित्र तथा सम्माननीय व्यवसाय माना जाता था। वास्तव में इन लोगों को इस बात की समझ भी नहीं थी कि वे कुछ गलत कार्य कर रहे हैं और उनकी नैतिक भावनाएं उनके इस कार्य में कोई भी बाधा नहीं बनती थी। काली देवी की इच्छा, जिसके अधिकार के तहत तथा जिसके सम्मान के लिए वे अपने व्यवसाय का पालन करते थे, शुभ-शुभ लक्षणों से उसकी सहमति की बहुत ही जटिल पद्धति के माध्यम से प्रकट की जाती थी। इस आशा के पालन के लिए वे लोग कभी-कभी तो अपने इच्छित शिकार के साथ मीलों तक और कभी-कभी उससे अधिक दूरी तक भी सफर करते थे, कि जब तक उन्हें अपनी इच्छापूर्ति के लिए सुरक्षित अवसर न मिल जाता और जब उनका कार्य पूरा हो जाता था, तब वे अपने आदि देवता के समान में संस्कार-पूर्ति करते थे तथा अपनी लूट का बड़ा हिस्सा उसके लिए अलग निकाल कर रखते थे। इन ठग लोगों की अपनी बेमतलब के शब्दों की भाषा थी तथा उसके साथ ही कुछ ऐसे विशेष चिह्न थे, जिनके द्वारा वे भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों में भी अपने सदस्यों को पहचानते थे। इनमें से जो लोग वृद्धावस्था अथवा विकलांग अवस्था के कारण इन कार्यों में क्रियाशील होकर भाग नहीं ले सकते थे, वे चौकीदार, जासूस तथा भोजन पकाने वालों के रूप में उनकी सहायता करते थे। उनके संपूर्ण संगठन के कारण ही वे लोग गुप्त तथा सुरक्षित रूप से अपने कार्य पर जा सकते थे परंतु मुख्य रूप से वह धाार्मिक

1. *इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटोनिका, 11वां संस्करण, खंड 26, पृ. 896*

परिवेश था जिसके अंतर्गत वे लोग अपने द्वारा की गई हत्या छुपा सकते थे और इसके कारण ही सदियों तक वे अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे। इस संबंध में यह एक बहुत ही विशेष बात है कि भारत के उस समय के हिंदू एवं मुसलमान शासकों ने ठगी को एक नियमित व्यवसाय के रूप में मान्यता दी थी। ठग लोग राज्य को कर देते थे और उन्हें राज्य बिना दंड के छोड़ देता था।

अंग्रेजों ने इस देश का शासक बनने के बाद ही ठगों के दमन का प्रयास किया। सन् 1835 तक 382 ठगों को फांसी दी गई और 986 लोगों को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भगाया गया अथवा आजीवन कैद की सजा दी गई। यहां तक कि काफी अंतराल के बाद भी सन् 1879 में पंजीकृत ठगों की संख्या 344 थी और भारत सरकार का ठगी एवं डकैती विभाग सन् 1904 तक अस्तित्व में था। इसके बाद उसका स्थान केंद्रीय अपराध अन्वेषण विभाग ने ले लिया। आज जब कि इन अपराधी जातियों के लिए अपराधियों के संगठित संगठन के माध्यम से जीवन व्यतीत करना संभव नहीं है, फिर भी अपराध करना उनका मुख्य व्यवसाय बना हुआ है।

इन दो वर्गों के अलावा एक तीसरा वर्ग भी है, जो ऐसे लोगों का बना हुआ है, जिन्हें, अस्पृश्य नाम से जाना जाता है।

इन अस्पृश्यों के नीचे कुछ अन्य लोग भी हैं, जिन्हें अप्रवेश्य माना जाता है। अस्पृश्य वे लोग होते हैं जिनके स्पर्श करने पर मनुष्य अपवित्र बन जाता है। अप्रवेश्य या पहुंच के बाहर के लोग वे लोग हैं जिनके कुछ अंतर के नजदीक आने पर मनुष्य अपवित्र हो जाता है। नायडी लोगों के बारे में ऐसा कहा जाता है कि वे लोग हैं जो न पहुंचने योग्य की श्रेणी में आते हैं और हिंदुजनों में से सबसे नीची जाति के हैं, जो कुत्ते का मांस खाते हैं। ये वे लोग हैं जो भीख मांगने के कार्य में भारी आग्रह करते हैं, और कोई भी पैदल चलने वाले, वाहन चलाने वाले अथवा नाव चलाने वाले व्यक्ति का एक आदरयुक्त अंतर रखते हुए वे मीलों तक उसका पीछा करते हैं। यदि उन्हें कुछ दिया जाए तब उसे नीचे जमीन पर रखना चाहिए और भीख देने वाले व्यक्ति से एक पर्याप्त दूरी तक चले जाने के बाद से भिखारी लोग बहुत ही घबराते हुए आगे आते हैं और उसे उठाते है। उन्हीं लोगों के बारे में श्री थर्स्टन कहते है – 'इन आश्रित (नायडी) लोगों का, जिनकी मैंने परीक्षा की, और शोरानूस में उनकी गिनती की, यद्यपि वे केवल तीन मील की दूरी पर रहते थे, अपनी परंपरागत अपवित्रता के कारण नदी पर बनाए गए लंबे पुल पर चल नहीं सकते थे, और इसके लिए उन्हें घूमकर अनेक मीलों का रास्ता तय करके आना पड़ता था'।

इनमें न पहुंचने योग्य लोगों के नीचे न देखने योग्य लोग हैं।

मद्रास राज्य के तिन्नेवेल्ली जिले में न देखने योग्य लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जिन्हें पूरड वंन्नन कहा जाता है उनके बारे में ऐसा कहा जाता है कि उन्हें दिन में विचरण करने की इजाजत नहीं होती क्योंकि उनका दर्शन भी अपवित्र माना जाता है। इन दुर्भाग्यशाली लोगों को रात्रि के समय कार्य करने के लिए मजबूर किया जाता है। वे अंधेरा होने पर अपने घर से निकलते हैं और तब वापस लौटते हैं, जब बिज्जू रीछ के समान किसी भी प्राणी की झूठी आवाज सुनते हैं।

इन सभी वर्गों की कुल जनसंख्या पर हम विचार करें। आदिवासी लोगों की कुल मिलाकर 250 लाख आवादी है। अपराधी जातियां 45 लाख हैं और अस्पृश्यों की संख्या 500 लाख है। इन सबको मिलाकर कुल संख्या 795 लाख बनती है। अब हम यह पूछ सकते हैं कि ये लोग हिंदू धर्म में रहते हुए भी नैतिक, भौतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अध:पतन की अवस्था में कैसे रह रहे हैं। हिंदू जन कहते है कि उनकी संस्कृति अन्य किसी भी संस्कृति से पुरानी है यदि ऐसा है, तब हिंदू धर्म इन लोगों को उन्नत करने में उन्हें ज्ञान देने में तथा उनमें आशा जगाने में असफल क्यों रहा? यह कैसे हो सकता है कि हिंदू धर्म उन्हें सुधारने में भी असफल हो गया? यह कैसे हो सकता है कि जब लाखों लोग शर्मनाक तथा अपराधी जीवन व्यतीत करने पर मजबूर हो रहे थे तब हिंदू धर्म हाथ बांधकर खड़ा रहा? इन सब प्रश्नों का क्या उत्तर है? इन सबका केवल एक ही उत्तर है कि हिंदू धर्म अपवित्रता के भय से व्याकुल है। उसमें शुद्धता लाने की शक्ति नहीं है। उसमें सेवाभाव की चेतना ही नहीं है और ऐसा इसलिए है क्योंकि उसकी मूल प्रकृति अमानवीय तथा अनैतिक है उसे धर्म कहना ही गलत बात है। इसका दर्शन, जिसके लिए धर्म का अस्तित्व है, उसका ही विरोधी है।

भाग II

भारत तथा साम्यवाद की पूर्वापेक्षा

हम यहां पर 'दि हिंदू सोशल आर्डर' शीर्षक के अंतर्गत लिखे गए एक तथा दो अध्यायों के मूल अंग्रेजी पाठ का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। ये अध्याय 'इंडिया एंड कम्युनिज्म' पांडुलिपि के भाग प्रतीत होते हैं। इस कृति के प्रथम पृष्ठ की विषयवस्तु के अनुसार डॉ. अम्बेडकर ने प्रस्तावित पांडुलिपि को तीन भागों में बांटा था। पहले भाग को 'प्री-रिक्वीजिट्ऑफ कम्युनिजम' नाम दिया गया। इस भाग में तीन अध्याय होने थे, लेकिन डॉ. अम्बेडकर के कागजों में इन तीनों अध्यायों में से कोई भी अध्याय नहीं मिल सका। जहां तक दूसरे भाग का संबंध है जिसका शीर्षक 'इंडिया एंड दि प्रो-रिक्वीजिट्स ऑफ कम्युनिज्म' है, इसका 'हिंदू सोशल आर्डर' नामक केवल चौथा अध्याय ही एक सजिल्द रजिस्टर में मिला है। इस अध्याय के निम्नांकित दो उप-शाीर्षक हैं :

1. हिंदू सोशल आर्डर : इट्स असेंशियल प्रिंसिपल्स, तथा

2. हिंदू सोशल आर्डर : इट्स यूनीक फीचर्स। प्रस्तावित पुस्तक की विषय वस्तु तालिका में उल्लिखित विषयों पर कोई अन्य अध्याय नहीं मिल पाया। – **संपादक**

अध्याय 2

हिंदू समाज-व्यवस्था : इसके मूलभूत सिद्धांत

I

हिंदू समाज-व्यवस्था की क्या विशिष्टता है? क्या यह एक स्वतंत्र समाज है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए यह समझना आवश्यक है कि स्वतंत्र समाज-व्यवस्था कैसी होती है। सौभाग्य से इस मामले पर बहुत अधिक विवाद नहीं है। फ्रांस की क्रांति से लेकर आज जब स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक लक्षणों के बारे में कोई मतभेद नहीं है। ये आवश्यक तत्व कई हो सकते हैं, लेकिन इसमें दो तत्व तो अनिवार्य है। पहली अनिवार्यता यह है कि समष्टि में व्यष्टि का समावेश होता है और समाज का लक्ष्य उस व्यष्टि को बढ़ाना तथा उसके व्यक्तित्व का विकास करना बन जाता है। समाज व्यक्ति से ऊपर नहीं होता और यदि व्यक्ति स्वयं को समाज के अधीन मानता है, तो उसका कारण यह है कि उसे समाज की अधीनता में अपनी बेहतरी का आभास होता है। यह अधीनता केवल उस समय तक रहती है, जब तक उसकी आवश्यकता महसूस की जाए।

दूसरी अनिवार्यता यह है कि किस समाज के सदस्यों के बीच सामाजिक धरातल पर स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे को महत्व दिया जाना चाहिए।

किसी समाज की स्वतंत्र व्यवस्था के लिए ये दो तत्व अनिवार्य क्यों हैं? समस्त सामाजिक उद्देश्यों के संदर्भ में व्यष्टि को साध्य क्यों माना जाना चाहिए, यह साधन क्यों नहीं हो सकता? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए इस बात को समझना आवश्यक है कि जब हम मानव के विषय में बात करते हैं तो इसका तात्पर्य क्या है? हमें मानव अधिकारों की रक्षा के लिए अपने अमूल्य संसाधनों तथा अनेक जिंदगियों का बलिदान क्यों करना चाहिए? इस प्रश्न का सबसे बेहतर जवाब प्रोफेसर जैक्स मैरिटेन देते हैं। प्रोफेसर मैरिटेन 'दि कांक्वेस्ट ऑफ फ्रीडम[1]' नामक अपने निबंध में लिखते हैं :

> "जब हम मानव के विषय में बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य मात्र यही नहीं होता है कि कोई व्यक्ति एक व्यष्टि अर्थात् समाज की इकाई है। ठीक वैसे ही, जैसे एक अणु, घास का तिनका, एक मक्खी या एक हाथी

---

1. *फ्रीडम-इट्स मीनिंग,* रूथ नंदा किशन, पृ. 214

> अलग-अलग इकाईयां हैं, व्यक्ति भी एक इकाई होता है जो अभी बुद्धि और इच्छा-शक्ति से स्वयं के अस्तित्व को बनाए रखता हैं। केवल उसका शारीरिक अस्तित्व ही नहीं होता, बल्कि उसके पास ज्ञान और प्रेम जैसे उच्च आध्यात्मिक भाव भी होते हैं जिससे वह कुछ मायनों में स्वयं में एक ब्रह्मांड है। वह एक ऐसा प्राणी है, जिसमें ज्ञान के माध्यम से उसकी संपूर्णता के साथ एक विशाल ब्रह्मांड को समेटा जा सकता है। प्रेम-भाव द्वारा वह अन्य प्राणियों से अपने को जोड़ सकता है। ऐसे संबंधों का साक्ष्य भौतिक संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। यह विशिष्टताएं मानव में होती हैं, क्योंकि मानव हाड़-मांस का पुतला होते हुए भी एक दैवी अग्नि से संपन्न है जो उसे क्रियाशील रखती है, जो उसमें जीवंत रहती है और यह अग्नि उसमें गर्भधारण से लेकर अर्थी चढ़ने तक मौजूद रहती है। आत्मा अजर और अमर है अर्थात् समय और मृत्यु से परे है। आत्मा व्यक्तित्व का मूल है। इस प्रकार व्यक्तित्व के अंतर्बोध में संपूर्णता तथा स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण स्थान है। भले ही कोई व्यक्ति कितना ही दीन-हीन क्यों न हो, तो वह समाज की एक इकाई ही। और एक व्यक्ति के रूप में उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्ति एक प्राणी है और एक संपूर्ण तत्व की समग्रता से अधिक उसकी स्वतंत्र सत्ता अधिक महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि वह संपूर्ण तत्व का एक सूक्ष्म कण है, जो एक ब्रह्मांड है। संपूर्ण मानव जाति में भिखारी भी एक इकाई है। वह हाड़-मांस का पुतला होता है, जिसका कि साक्षात एक मूल्य तथा महत्व होता है किन्तु वह असहाय होता है। वैसे वह स्वर्ग का प्रहरी है। यह एक आध्यात्मिक रहस्य है, जिसका धार्मिक सिद्धांतों में स्वस्थ उल्लेख है, और इसीलिए कहा जाता है कि मानव ईश्वर की प्रतिमूर्ति है। मनुष्य का मूल्य, उसकी गरिमा तथा अधिकार उन नैसर्गिक पवित्र वस्तुओं से संबंध रखते हैं, जिससे परमपिता परमेश्वर की छाप होती है और जो उसके भीतर उनके लक्ष्यों को निर्धारित करती है।''

समानता क्यों परवमावश्यक है? इस विषय का सबसे अच्छा वर्णन प्रो. बियर्ड ने अपने निबंध 'फ्रीडम इन पालिटिकल थाट' में किया है और उनको उद्धत करने के अलावा मैं और कुछ नहीं करूंगा। प्रो. बियर्ड[1] के अनुसार :

> ''समानता एक निरर्थक शब्द है, किन्तु इसका कोई विकल्प भी नहीं है। समानता का अर्थ है, 'ठीक वैसा ही अर्थात् माप, तोल, गुण, धर्म और कर्म में समान'। यह एक ऐसा शब्द है जो भौतिक-शास्त्र तथा गणित में तो चल सकता है, लेकिन मानव के साथ उपयोग में लाने पर सटीक अर्थ नहीं देता।

1. फ्रीडम-इट्स मीनिंग, पृ. 11-13

> जिन विद्वानों ने इस विषय का सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, उनका विचार है कि मानव समाज में मोटे तौर से तो मूल प्रवृत्तियां एक जैसी होती हैं, किन्तु जब इन प्रवृत्तियों का विस्तार होता है, जब उनमें पूरी तरह भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है। उस समय उनकी सार्वभौमिकता विलीन हो जाती है। क्या इन लक्षणों को मौलिक गुण, जैविक आवश्यकताएं अथवा अवशिष्ट कहा जाए या कोई अन्य छोटा-मोटा नाम दिया जाए। कोई भी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि उनका अस्तित्व होता है। शारीरिक शक्ति, कला-कौशल, भौतिक संपत्ति या मानसिक क्षमता में असमानताएं स्वभाविक हैं। लेकिन इस विषय पर बल देने की आवश्यकता है। अंत में यह तथ्य सामने आता है कि मूलभूत लक्षण सभी मानवों में विद्यमान होते हैं। उनकी प्रकृति तथा अभिव्यक्तियों को 'नैतिक समानता' कहा जा सकता है।''

'आचार' शब्द पर जोर दिया जाना चाहिए। सृष्टि के आरंभ से ही आलोचकों में यह परंपरा रही है कि वे शारीरिक शक्ति, प्रतिभा तथा संपत्ति के मामले में यह तत्व उजागर करते रहे हैं कि इस मामलों में मानव एक समान नहीं होते। यह आलोचना अनावश्यक भी है तथा अप्रांसगिक भी। नैतिक समानता के किसी पक्षधर ने मानव-मात्र के बीच विद्यमान स्पष्ट असमानाताओं को उजागर किया हो, जिनके कारण अत्याचार या संस्थागत भोगाधिकार प्रकट होते हैं। स्वतंत्रता की घोषणा यह सुनिश्चित नहीं करती कि सभी मनुष्य समान हैं, बल्कि यह उद्‌घटित करती है कि वे समान पैदा होते हैं।

संक्षेप में, जब 'नैतिक समानता' कहते हैं तो इसका अर्थ है आचार-विचार की समानता। यह एक विश्वास है, अधिकारों की ऐसी मान्यता है, जिसका आदर किया जाना चाहिए। इसको वैसे तो प्रमाणित नहीं किया जा सकता, जैसे गणित के प्रश्न हल कर दिए जाते हैं। इसे शारीरिक शक्ति, प्रतिभा, उद्योग तथा संपत्ति संबंधी असमानताओं के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। यह इस बात का निषेध करती है कि मात्र शारीरिक रूप से बलिष्ठता के आधार पर कोई निर्बलों को मारे, खाए या सताए। इसी प्रकार नैतिक समानता के अनुसार प्रतिभा तथा संपत्ति के मामले में भी कोई छूट नहीं दी जा सकती। ऐसी स्थिति में तो कोई भी बल, बुद्धि तथा संपदा में अपने को श्रेष्ठता के पलड़े में भारी मान सकता है। ऐसी परिस्थितियों में सरकार तथा संपत्ति बलवानों के पास चली जाएगी, जब कि गुण तथा प्रतिभा अत्याचारियों के आगे हाथ बांधे खड़े रहेंगे, ठीक वैसे ही जैसे यूनान के दास रोम के विजेताओं की सनकों तथा इच्छाओं को पूरा किया करते थे। अब जब कि नैतिक समानता के सिद्धांत की कटु आलोचना की जा चुकी है, इसमें ऐसा कुछ है जिसे स्वीकार किया जाना चाहिए और उसका अनुकरण किया जाना चाहिए, भले ही इसके प्रति विरोध क्यों न हो। मानव व्यक्तित्वों के प्रति बिना किसी अंदर वाला समाज डाकुओं का समूह होता है।

भाईचारे की भावना क्यों अनिवार्य है? भाईचारा मानव के उस गुण का नाम है जिसके अनुसार वह समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ प्यार-सम्मान का भाव रखता है और उनके साथ एकरस होने की इच्छा रखता है। इस कथन के स्पष्ट उल्लेख पाल ने किया कि 'कौमों के इसी इंसानों का खून एक समान है। उनमें से न तो किसी का खून यहूदी है और न यूनानी है, न कोई बंधक है और न कोई स्वतंत्र है, न कोई पुरुष है और न कोई स्त्री है। वे सभी प्रभु ईसा की दृष्टि में एक समान हैं।' प्लाइमाउथ पहुंचकर इंग्लैंड प्यूरिटन संप्रदाय के पादरियों ने भी कुछ ऐसा ही बहुत अच्छे ढंग से कहा था : 'ईश्वर की पवित्र प्रतिज्ञा के अनुसार हम एक शरीर के रूप में साथ-साथ गुथे हुए हैं। ......इसी कारण हम एक-दूसर की भलाई की चिंता करते हैं और संपूर्ण मानवता के हितों के लिए प्रतिबद्ध हैं।' यही भाव भाईचारे का मूल है। भाई-चारे से सामाजिकता मजबूत होती है और इससे प्रत्येक व्यक्ति में एक ऐसा प्रभावशाली लगाव पैदा होता है, जिसके माध्यम से वे व्यावहारिक रूप से दूसरों के कल्याण के बारे में सोचता है। इससे वह दूसरों की भलाई में अपनी भावनाओं को अधिक से अधिक जोड़ता है या कम से कम इसके लिए व्यावहारिक रवैया अपनाता है। भाई-चारे की मनोवृत्ति उसे सहजता से सचेत करती है कि वह उस व्यक्ति के समान है जो दूसरों को सम्मान देता है। दूसरों की भलाई उसके लिए उतनी ही स्वाभाविक हो जाती है, जितनी कि हमारे अस्तित्व के लिए कोई भौतिक अवस्था आवश्यक होती है। जहां लोग दूसरों के साथ सहानुभूति की संपूर्णता का अनुभव नहीं करते, वहां उनके आचरण में समरसता असंभव होती है जिस व्यक्ति में सामाजिक भावना का अभाव होता है, वह दूसरों के बारे में सिवाय इसके और कुछ नहीं सोच सकते कि वे उसके प्रतिद्वंद्वी हैं। इसलिए वह अपनी खुशियों के लिए उन्हें पराजित करने की चेष्टा में लगा रहता है।

स्वतंत्रता क्या है और स्वतंत्र समाज-व्यवस्था में यह क्यों आवश्यक है?

स्वतंत्रता को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है, एक नागरिक स्वतंत्रता होती है और दूसरी राजनीतिक स्वतंत्रता। नागरिक स्वतंत्रता के अंग हैं - (1) विचरण की स्वतंत्रता, अर्थात् कानूनी प्रक्रिया के बिना बेरोक-टोक आवागमन, (2) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता; इसमें विचारों की स्वतंत्रता, पढ़ने की स्वतंत्रता, लिखने की स्वतंत्रता तथा बातचीत करने की स्वतंत्रता शामिल होती है, और (3) कार्य करने की स्वतंत्रता।

पहले प्रकार की स्वतंत्रता निस्संदेह मौलिक स्वतंत्रता है। यह न केवल मौलिक, बल्कि अत्यंत आवश्यक भी है। इसके महत्व के संबंध में कोई संदेह नहीं है। दूसरी स्वतंत्रता जिसे विचारों की स्वतंत्रता कहा जा सकता है, कई कारणों से महत्वपूर्ण है। यह बौद्धिक, नैतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक, सभी प्रकार की उन्नति के लिए आवश्यक है। जहां यह स्वतंत्रता नहीं होती, वहां यथास्थिति रूढ़ हो जाती है और

सभी मौलिकताएं, यहां तक कि अत्यंत आवश्यक मौलिकता भी हतोत्साहित हो जाती है। कार्य की स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि व्यक्ति जो चाहे सो करे। इतना ही पर्याप्त नहीं है, कार्य की स्वतंत्रता औपचारिक हो। यह वास्तविक अर्थ में होनी चाहिए। जैसा कि स्पष्ट है, स्वतंत्रता का तात्पर्य विशिष्ट कार्य को करने की प्रभावी शक्ति से है। जहां इस स्वतंत्रता का लाभ उठाने के साधन मौजूद नहीं हैं, वहां यह स्वतंत्रता नहीं है। कार्य करने की वास्तविक स्वतंत्रता केवल वहीं पर होती है, जहां शोषण का समूल नाश कर दिया गया है, जहां एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अत्याचार नहीं किए जाते, जहां बेरोजगारी नहीं है, जहां गरीबी नहीं है, जहां किसी व्यक्ति को अपने धंधे के हाथ से निकल जाने का भय नहीं है, अपने कार्यों के परिणामस्वरूप जहां व्यक्ति अपने धंधे की हानि घर की हानि तथा रोजी-रोटी की हानि के भय से मुक्त है।

राजनैतिक स्वतंत्रता का तात्पर्य व्यक्ति की उस स्वतंत्रता से है जिसके अनुसार वह कानून बनाने तथा सरकारों को बनाने अथवा बदलने में भागीदार होता है। सरकारों का गठन इसलिए किया जाता है जिससे कि वे व्यक्ति के लिए कुछ अनन्य अधिकार, जैसे जीवन-स्वतंत्रता तथा प्रसन्नता के साधन सुरक्षित ढंग से उपलब्ध कराएं। अत: सरकार वहां से ही अपने अधिकार प्राप्त करे, जिनके अधिकारों को सुरक्षित रखने का दायित्व उसे सौंपा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सरकार को अपना अस्तित्व, अपनी शक्ति, अपना अधिकार उन लोगों से ही प्राप्त करना चाहिए, जिन पर वह शासन करती है। वास्तव में राजनीतिक स्वतंत्रता मानव-व्यक्तित्व तथा समानता के सिद्धांत से उत्पन्न होती है क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि सभी प्रकार का राजनीतिक अधिकार जनता से प्राप्त होता है तथा जनता दूसरों के द्वारा नहीं, बल्कि अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए लोगों के सार्वजनिक तथा निजी जीवन को नियंत्रित करने तथा दिशानिर्देश देने में समर्थ है।

स्वंतत्र समाज व्यवस्था के दोनों सिद्धांत एक-दूसरे से जुड़े हैं। इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। एक बार यदि पहले को स्वीकार कर लिया जाए, जो दूसरा सिद्धांत स्वत: ही आ जाता है। यदि एक बार मानव-व्यक्तित्व की पवित्रता को स्वीकार कर लिया जाए तो व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित वातावरण के रूप में स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे की आवश्यकता को भी स्वीकार किया जाना चाहिए।

II

हिंदू-समाज व्यवस्था इन सिद्धांतों को कहां तक मान्यता प्रदान करती है? यह जानकारी होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि यह केवल इस बात पर निर्भर करता है कि समाज किस सीमा तक इन सिद्धांतों को मान्यता देता है; इस कसौटी पर कसकर ही इसे एक स्वतंत्र समाज-व्यवस्था कहा जा सकता है।

क्या हिंदू समाज-व्यवस्था में व्यक्ति का महत्व है? क्या यह उसकी विशिष्टता तथा नैतिक जवाबदेही को मान्यता देती है? क्या यह उसे प्रतिबंधों का दास न मानकर उसे राज्य के विरुद्ध सिर उठाने का अधिकार देकर उसे साध्य के रूप में स्वीकार करती है? इस विषय पर बातचीत करने के लिए निर्गमन उस प्रसंग को स्मरण करना होगा, जब जहोवा ने इजोकिल से कहा था :

> ''देखो! सभी आत्माओं पर मेरा अधिकार है, जैसे की पिता की आत्मा मेरी है वैसे ही पुत्र की आत्मा भी मेरी है, जो आत्मा पाप-कर्म करती है, वह नष्ट हो जाएगी। ......पुत्र, पिता के दुराचार का भागीदार न होगा, और न पिता ही पुत्र के दुराचार का भागी होगा। पुण्यात्मा की पवित्रता का लाभ उसी पुण्यात्मा को मिलेगा, तथा पापी के पाप-कर्म का परिणाम उसी पापात्मा को भुगतना पड़ेगा।''

यहां व्यक्ति विशेष की विशिष्टता तथा उसके नैतिक दायित्व पर बल दिया गया है। हिंदू समाज-व्यवस्था व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्य का केंद्र नहीं मानती, क्योंकि हिंदू समाज-व्यवस्था मुख्य रूप से श्रेणी या वर्ण पर आधारित है, न कि व्यक्ति पर। मूल तथा औपचारिक रूप से हिंदू समाज-व्यवस्था ने चार वर्णों को मान्यता दी है : (1) ब्राह्मण, (2) क्षत्रिय, (3) वैश्य तथा (4) शूद्र। आज इसमें पांच वर्ग शामिल हैं। पांचवें को पंचम या अस्पृश्य कहा जाता है। हिंदू समाज की इकाई न कोई ब्राह्मण व्यक्ति है और न क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा पंचम वर्ग का व्यक्ति ही उसकी इकाई है। यहां तक कि परिवार को भी हिंदू समाज-व्यवस्था द्वारा समाज की इकाई नहीं माना जाता। हां, केवल शादी-विवाह तथा उत्तराधिकार के मामलों में ऐसा माना जाता है। हिंदू समाज-व्यवस्था में व्यक्ति विशेष की योग्यता का कोई स्थान नहीं है तथा वैयक्तिक न्याय का भी ध्यान नहीं रखा जाता है। यदि किसी व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार प्राप्त है तो ऐसा इसलिए नहीं है कि वह व्यक्तिगत रूप से उसका अधिकारी है। यह विशेषाधिकार उसे उसके वर्ण के कारण मिलता है, और यदि वह उसका उपभोग करता है तो सिर्फ इसलिए कि वह एक वर्ण विशेष का है। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति को कष्ट भोगना पड़ रहा है तो उसका कारण भी उसका वर्ण ही हैं, यह दुरावस्था वर्ण के आधार पर थोपी जाती है और यदि वह इसके कारण पिस रहा है तो इसका उत्तरदायी उसका वर्ण है।

क्या हिंदू समाज-व्यवस्था भाई-चारे को मानती है? ईसाई तथा मुसलमानों की तरह हिंदू भी यही मानते हैं कि इंसान को ईश्वर ने पैदा किया है। लेकिन जहां ईसाई और मुसलमान इसे पूर्ण सच्चाई मानते हैं, हिंदू इसे अर्द्ध-सत्य मानते हैं। उनके अनुसार इस पूर्ण सत्य के दो भाग हैं पहला भाग तो यह है कि मनुष्य को ईश्वर ने

पैदा किया है। दूसरा भाग यह है कि ईश्वर ने अपने दैवी शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से भिन्न-भिन्न वर्ण के लोगों को पैदा किया है। हिंदू पहले भाग की तुलना में दूसरे भाग को अधिक महत्वपूर्ण तथा अधिक मौलिक मानते हैं।

हिंदू समाज व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित है कि ईश्वर ने मानव को अपने शरीर के भिन्न-भिन्न हिस्सों से पैदा किया है, अतः पाल या पवित्र स्थानों की यात्रा करने वाले पादरियों द्वारा व्यक्त किए गए विचारों का इसमें कोई स्थान नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं से पैदा हुआ है। क्षत्रिय, वैश्य का भाई नहीं है क्योंकि क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं तथा वैश्य उसकी जंघा से पैदा हुआ है। चूंकि कोई किसी का भाई नहीं है, अतः कोई किसी का रक्षक नहीं है।

इस सिद्धांत ने, कि भिन्न-भिन्न वर्ण ईश्वर के भिन्न-भिन्न अंगों से पैदा हुए हैं, इस विश्वास को पैदा किया है कि यह ईश्वरीय इच्छा है कि वे सभी वर्ण अलग-अलग रहें तथा अपनी अलग-अलग पहचान बनाए रखें। इसी विश्वास ने हिंदुओं में अलग-अलग रहने तथा अपने शेष साथी हिंदुओं से भिन्न, विशिष्ट पहचान बनाए रखने की भावना को बल दिया है। मनुस्मृति के उपनयन या यज्ञोपवीत पहनने के निमंकित निमयों की तुलना कीजिए :

> 2.36 ब्राह्मण-बालाक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय-बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य-बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार कराएं।
>
> 2.41 ब्रह्मचारी अपनी जाति के अनुसार शरीर के ऊपरी भाग पर कृष्णमृग चित करते मृत तथा बकरे की खाल शरीर के निचले भाग पर सन, क्षौम या ऊन के बने वस्त्र पहने।
>
> 2.42 ब्राह्मण की मेखला में तीन गाठें मूंगा घास के तीन धागों से और चिकनी व मुलायम, क्षत्रिय की मेखला मुर्वा धागे की तथा वैश्य की मेखला सन के धागों की बनी होनी चाहिए।
>
> 2.43 यदि मूंगा घास आदि प्राप्त न हो, तो (मेखला) कुश अश्मंतक तथा बल्वज (रेशों) की बनाई जा सकती है जिसमें (परिवार की रीति-रिवाज के अनुसार) एकल तिहरी गांठ या तीन या पांच गांठें लगाई जा सकती हैं।
>
> 2.44 ब्राह्मण का यज्ञोपवीत रूई का, क्षत्रिय का यज्ञोपवीत सन के धाागों का तथा वैश्य का यज्ञोपवीत ऊनी धागों का ऊपर की ओर से बंटा हुआ तीन लड़ी का होना चाहिए।
>
> 2.45 पवित्र विधाान के अनुसार ब्राह्मण को बेल या पलाश का, क्षत्रिय को बट या खैर का तथा वैश्य को पीलु या गूलर का दंड धारण करना चाहिए।

2.46 ब्राह्मण का दंड केश तक, क्षत्रिय का दंड ललाट तक तथा वैश्य का दंड नाक तक लंबा होना चाहिए।

2.48 सूर्योपसना के बाद अपनी पसंद का दंड लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा कर विद्यार्थी ब्रह्मचारी को विधिपूर्वक भिक्षा मांगनी चाहिए।

2.49 उपवीत ब्राह्मण को 'भवति' शब्द का वाक्य के पहले उच्चारण कर क्षत्रिय को भवति शब्द का वाक्य के मध्य में उच्चारण कर तथा वैश्य को भवति शब्द का वाक्य के अंत में उच्चारण कर भिक्षा याचना करनी चाहिए।

इसको पढ़कर कोई भी इन भिन्नाओं के कारणों के बारे में पूछ सकता है उपुर्यक्त नियम विद्यार्थियों या तथाकथित ब्रह्मचारियों से संबंधित हैं जो वेदों का अध्ययन करने को तत्पर हैं, यह भिन्नताएं क्यों होनी चाहिएं? ब्राह्मण बालक के उपनयन की उम्र और क्षत्रिय या वैश्व बालक के उपनयन की उम्र में भिन्ता क्यों होनी चाहिए? उनके वस्त्र भिन्न-भिन्न प्रकार के क्यों होने चाहिए, उनके दंड अलग-अलग पेड़ों की लकड़ी से क्यों बनाए जाने चाहिएं? उनके दंड की लंबाई अलग-अलग क्यों होनी चाहिए? भिक्षा याचना करने के समय 'भवति' शब्द को वाक्य का उच्चारण करते समय अलग-अलग स्थानों पर क्यों रखना चाहिए? ये भेद न तो आवश्यक है और न ही लाभदायक है। इसका एकमात्र उत्तर यह है कि यह भदे सहज हिंदू प्रवृत्ति का परिणाम है कि वे अपने ही साथी मानवों से अलग-अलग रहते हैं, जो लोगों के इस विश्वास के कारण है कि वे सभी ईश्वरीय शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से पैदा हुए हैं।

इसी विश्वास के कारण हिंदूओं की यह भी मूल प्रवृत्ति है कि भेद को नजरअंदाज न किया जाए, बल्कि उस पर बल दिया जाए, उसे पहचाना जाए तथ उसे उजागर किया जाए। जाति के अस्तित्व की ओर उसके विशिष्ट वस्त्रों और नाम से ध्यान आकर्षित किया जाना चाहिए। संप्रदाय के लिए उसकी पहचान होना आवश्यक है। भारत में 92 मत-मतांतर हैं। उनमें से प्रत्येक का अलग चिह्न है। एक दूसरे से पृथक 92 संकेतों की खोज करना जटिल कार्य है। इसी कारण अति मेधावी व्यक्ति को भी इसमें सिर खपाने की हिम्मत नहीं होगी तथापि, हिंदुओं ने इसे पूरा किया है, जिसे मूर द्वारा अपनी हिंदू पेंथियोन पुस्तक में दिए गए इन तिलकों के सचित्र निरूपण में देखा जा सकता है।

निस्संदेह पृथक्करण तथा अलगाववाद की भावना की बहुत व्यापक और अनियंत्रित अभिव्यक्ति जातिप्रथा है। यह समझ लेना चाहिए कि जाति एक नहीं, अनेक हैं। जातियां हो सकती है। लेकिन एक जाति जैसी कोई चीज नहीं हो सकती। लेकिन सिद्धांत रूप में यह मान लिया जाए कि जातियां होनी चाहिएं, तो कितनी जातियां होनी चाहिएं? मूल रूप से शुरू में केवल चार जातियां थीं। आज कितनी हैं? अनुमान है कि कुल मिलाकर ये दो हजार से कम नहीं हैं। यह तीन हजार भी हो सकती हैं।

इस संदर्भ में चौंकाने वाला यह केवल एक पहलू नहीं है, और भी हैं। जातियों को भी उपजातियों में बांटा गया है। उनकी संख्या अनगणित हैं। ब्राह्मण जातियों की कुल आबादी लगभग डेढ़ करोड़ है। लेकिन ब्राह्मण जाति में भी 1,886 उपजातियां हैं। केवल पंजाब में ही सारस्वत ब्राह्मण 469 उपजातियों में बंटे हैं। पंजाब के कायस्थों की 890 उपजातियां हैं। इसी प्रकार समाज को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटने वाली इस अंतहीन प्रक्रिया के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। टुकड़ों में बांटने वाली इस प्रक्रिया से सामाजिक जीवन बिल्कुल असंभव सा हो गया हैं। इससे जातियां इतने छोटे समूहों में बंट गई हैं कि उससे बाह्य जातियों के साथ विवाह-संबंध करना बिल्कुल असंभव सा हो गया है। बनियों की कुछ उपजातियों के तो सौ परिवारों से ज्यादा घर नहीं हैं। वे आपस में इतने मिले-जुले हैं कि सगोत्रता के नियमों का उल्लंघन किए बिना उनकी जातियों में शादी-विवाह करना कठिन हो गया है।

यह उल्लेखनीय है कि छोटे-मोटे बहाने ही इन जातियों के उपजातियों में विभाजित होने के कारण हैं। जातियों-उपजातियों के स्थान परिवर्तन, व्यवसाय परिवर्तन, सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन, प्रदूषण के कारण परिवर्तन, मालिकाना हक के कारण, परिवर्तन झगड़े के कारण परिवर्तन, धर्म परिवर्तन के कारण से बिखराव आता जाता है। श्री ब्लंट ने हिंदुओं में विद्यमान इस प्रवृत्ति का जीवंत वर्णन करने के लिए कई उदाहरण दिए हैं यहां सभी को प्रस्तुत करना संभव नहीं है। अतः यहां केवल एक उदाहरण ही प्रस्तुत किया जा रहा है, जो यह दर्शाता है कि छोटे-मोटे झगड़े एक जाति को उपजातियों में कैसे बांट देते हैं। जैसा कि श्री ब्लंट ने कहा है :

> "लखनऊ में खटीक नाम की एक उपजाति है, जिसमें तीन गोल अथवा समूह थे। इन्हें मानिकपुर, जायसवाल तथा दलमान के नाम से जाना जाता था। उनमें रोटी-बेटी का व्यवहार था ओर वे अपने चौधरी अथवा प्रधान के नेतृत्व में पंचायत में एक साथ बैठते थे। बीस वर्ष पहले प्रत्येक समूह का एक ही चौधरी होता था। लेकिन आज जैसवाल समूह के ही तीन चौधरी हैं तथा मानिकपुर समूह के दो। झगड़े का पहला कारण यह था कि एक औरत (जिसका गोल नहीं दिया गया है) गली में फल बेचा करती थी। उसके भाई-बंधुओं ने उसे ऐसा न करने का आदेश दिया क्योंकि ऐसा करना उनकी बिरादरी की शान के खिलाफ था। औरतों को केवल दुकानों पर बैठकर बिक्री करना चाहिए। वह और उसका पति हठी थे, और अंत में उसके ही अपने गोल ने उन्हें बिरादरी से बाहर कर दिया। वैसे दलमान गोल, जो इस कार्यवाही से सहमत नहीं था, उसने औरत के पति को जाति से बाहर रखने के बजाए 80 रुपए दंड लेकर अपने वर्ग में ले लिया। झगड़े का दूसरा कारण यह था कि एक आदमी (जिसका

1. *दि कास्ट सिस्टम आफ नदर्न इंडिया*, पृ. 51-56

> गोल नहीं दिया गया है) को अपने को गोल द्वारा बिरादरी से बाहर कर दिया था और जब कि यह मामला न्यायालय में विचारधीन था, जैसवाल चौधरी ने गलती से उसे रात के भोजन पर बुला लिया। इस पर तीनों गोलों ने एक साथ मिलकर चौधरी पर 30 रुपए का दंड लगा दिया। अंत में दंड की राशि एकत्रित की गई और यह निर्णय लिया गया कि कथा कराई जाए। दलमु चौधरी ने कहा कि वह तो अपना हिस्सा नकद लेगा। लेकिन मानिकपुर चौधरी (जसके पास संयुक्त राशि जमा थी) ने इससे असहमति व्यक्त करते हुए वह रवैया अपनाया कि जो कथा होने जा रही है, उसमें दलमु लोग यदि चाहें तो आ सकते हैं, और न चाहें तो न आएं। इस स्तर पर इस मामले को न्यायालय में ले जाया गया, इसी बीच तीनों गोलों ने एक दूसरे के साथ-शादी विवाह करना बंद कर दिया। इन झगड़ों के कारण सगोत्र शादी-विवाह होने वाली उपजाति तीन समूहों में बंट गई और एक गोल दूसरे गोल के खिलाफ हो गया।

यदि किसी जाति का कोई समूह पूजा का कोई नया या असामान्य माध्यम अपनाता है, जिसे उसकी बिरादरी के अन्य सदस्य मान्यता नहीं देते, तो वह गुट टूट जाएगा और एक संगोत्र उपजाति बन जाएगी। यदि कुछ उपजातियां देखने में नहीं आती हैं तो इसका कारण उनकी सहिष्णुता है कि वह किसके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करते है तथापि हम पाएंगे कि तेली तथा कोरी जातियों में महाभीर व पंचप्रिय और बढ़ई, भंगी तथा खडेरा जातियों में नमकशाली उपजातियां पाई जाती हैं।''

ये जातियां एक दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करती हैं, इनका मूल मंत्र है कि अलग-अलग रहो', 'एक दूसरे के साथ विवाद न करो', 'एक दूसरे के साथ खान-पान न करो' तथा 'एक-दूसरे को न छुओ'। श्री ब्लंट ने इस स्थिति का बहुत ही मार्मिक वर्ण किया है। वह कहते हैं :

> ''एक हिंदू या तो अकेला खाना खाता है, या फिर अपनी बिरादरी के लोगों के साथ खाता हैं। स्त्रियां पुरुषों के साथ खाना नहीं खा सकतीं। वे तब तक इंतजार करती हैं, जब तक कि उनके पति खाना समाप्त नहीं कर लेते। जहां तक खाने या खाने के किसी भाग में कच्चा खाना (यह हमेशा होता है क्योंकि हर खाने में चपाती होती है) शामिल होता है, तो ऐसे में आदमी को बड़े मंत्रोपचार जैसे एतिहायती कदमों के साथ भोजन करना पड़ता है। वह जमीन पर अपने चारों तरफ चौकोर लकीर खींचकर (चौका) बैठता है, जिसके अंदर चूल्हा या खाना बनाने का स्थान होता है। यदि किसी अजनबी की छाया भी ऐसे स्थान पर पड़ जाती है, तो सारा पका-पकाया खाना झूठा हो जाता है और उसे फेंक दिया जाता है। एक ही समूह में हिंदू सेवकों को एक-दूसरे से अलग-अलग अपने-अपने चौके में मिट्टी के चूल्हों पर अपना

खाना बनाते हुए और अकेले बैठकर खाते हुए देखा जा सकता है।''

कुल मिलाकर पानी पीने के नियम भी ठीक उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार पक्का खाना स्वीकार करने के। लेकिन इसमें प्रवृत्ति कुछ हद तक लचीली है। यह बात उस पात्र पर लागू होती है, जिसमें पानी रखा जाता है। एक उच्च जाति का आदमी निम्न जाति के आदमी से अपना लोटा तो भरवा लेगा, पर उसके लोटे से पानी नहीं पिएगा। फिर, ऊंची जाति वाला किसी भी व्यक्ति को (अस्पृश्यों को छोड़कर) पानी पिलाएगा, और ऐसा वह अपने लोटे से उस पीने वाले के लोटे में पानी डालकर करेगा। स्टेशनों पर रेल-यात्रियों को पानी की आपूर्ति किए जाने के लिए रखे हुए सभी आदमी बढ़ई, बारी, भड़भूजे, हलवाई, कुम्हार तथा नाई हैं। निस्संदेह कुछ उच्च जातियों के भी हैं।

धूम्रपान के नियम तो और भी सख्त हैं। बहुधा देखा गया है कि कोई आदमी अपनी बिरादरी के लोगों के अलावा किसी और के साथ धूम्रपान नहीं करता। इसका कारण बहुत ही स्पष्ट है कि धूम्रपान में सामान्यत: हुक्के का प्रयोग किया जाता है और इसमें ज्यादा नजदीकी संबंध निहित होते हैं, यहां तक कि खाने से भी ज्यादा। यह नियम वास्तव में इतना कठोर है कि इस तथ्य के आधार पर से भी ज्यादा। यह नियम वास्तव में इतना कठोर है कि इस तथ्य के आधार पर जाट, अहीर और गुजर एक-दूसरे के ज्यादा सगे-संबंधी माने जाते हैं, अत: वे एक-दूसरे के साथ धूम्रपान कर सकते हैं। कुछ जातियां, उदाहरण के लिए कायस्थ नारियल तथा सामान्य तरीके से धूम्रपान करने के बीच अंतर रखते हैं। नारियल द्वारा धूम्रपान करने में नलकी के चारों ओर हाथ गोल करके बंद कर दिया जाता है और नली को मुंह में डाले बिना धूम्रपान किया जाता है। पात्रों के बारे में कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके भी नियम निर्धारित हैं कि किस प्रकार के बर्तन बनाए जाने चाहिएं। लेकिन ये नियम सामाजिक होने के बजाए धार्मिक ज्यादा हैं। हिंदुओं को मिश्र धातु या पीतल के बर्तनों का उपयोग करना चाहिए हालांकि मिश्र धातु का उपयोग अनेक तथा छोटी-छोटी निषेधज्ञाओं से सीमित है और यदि यह पात्र अशुद्ध हो जाते हैं, तो उनको शुद्ध करने का तरीका केवल यह होता है कि उन्हें पुन: ढाला जाए। बर्तन झूठे हो जाने के डर के कारण हर आदमी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने उपयोग के लिए कुछ निजी बर्तन रखे। इनमें कम से कम एक लोटा (पीने का पात्र), बटलाई तथा थाली होनी चाहिए। उच्च जाति के ग्रामीण लोग एक कटोरा तथा गागर इसमें और जोड़ देते हैं। दावत के लिए एक ही जाति के लोग सामान्यत: सभी प्रकार के बर्तन बड़ी मात्रा में रखते है, जिन्हें वे मेजबान को बरतने के लिए देते हैं। इन बर्तनों को दंड-स्वरूप प्राप्त हुए धन से खरीदा जाता है, और यह सभी की साझा संपत्ति होती है।''

ऐसे मनोविकारों पर आधारित समाज-व्यवस्था में भाई-चारा कैसे हो सकता है? भाई-चारे की भावना तो दूर की बात है, जातियों के आपसी संबंध भी भ्रात-हत्या जैसे हैं। वर्ग-चेतना, वर्ग-संघर्ष तथा वर्ग-युद्ध जैसी विचारधारा के बारे में माना जाता है कि यह कार्लमार्क्स के लेखन से अस्तित्व में आई। यह एक भारी गलती है। भारत वह देश है, जिसने वर्ग-संघर्ष का वास्तविक अनुभव किया है। भारत वह भूमि है, जहां ब्राह्मणों व क्षत्रियों[2] के बीच वर्ग-युद्ध हुआ है, जो कई पीढ़ियों तक चला है और इतनी कटुता के साथ लड़ा गया कि इससे समूलनाश-युद्ध का वातावरण ही बन गया था।

यह नहीं माना जाना चाहिए कि भाई द्वारा भाई की हत्या करने की भावना ने भाईचारे की भावना को जन्म दिया है। हिंदू समाज-व्यवस्था में पृथक्करण की ठीक वही भावना आज भी देखी जा सकती है, जो कि निम्न विवरण से स्पष्ट है :

प्रत्येक वर्ग अपनी अलग-अलग व पृथक उत्पत्ति का दावा करता है। कुछ यह दावा करते हैं कि वे अमुक ऋषि या अमुक योद्धा की संतान हैं लेकिन हरेक मामले में ऋषि या नायक भिन्न होता है, जिसका दूसरी जातियों के जनक कहे जाने वाले अन्य ऋषियों या नायकों से कोई संबंध नहीं होता। प्रत्येक जाति इस बात का ध्यान रखती है कि वह अपने को दूसरी जाति से श्रेष्ठ सिद्ध करे। इसका सही चित्रण अतिसहभोजता के नियमों तथा अतिसंगम के नियमों द्वारा किया गया है। जैसा कि श्री ब्लंट ने कहा है :

> ''यह जानना आवश्यक है कि खान-पान के संबंध में रसोइए की जाति पक्का मापदंड है। मेजबान कोई भी हो सकता है। अतः यह स्वाभाविक है कि उच्च जाति का हिंदू किसी भी जाति के व्यक्ति का खाना खा सकता है, बशर्ते मेजबान का रसोइया उपयुक्त जाति का हो और यही कारण है कि अनेक रसोइए ब्राह्मण हैं। हिंदू कच्चा खाना, जो कि पानी से बनाया जाता है तथा पक्का खाना जो कि घी में बनाया जाता है, के बीच अंतर करता है। यह अंतर इस सिद्धांत पर आधारित है कि गाय का घी शुद्ध पदार्थ है, इसलिए अशुद्ध की आशंका नहीं रहती। इसीलिए इस सुविधाजनक मान्यता के कारण हिंदू कच्चे खाने की अपेक्षा पक्के खाने के मामले में कम रूढ़िवादी होता है और तदनुसार अपने प्रतिबंधों को सीमित करता है।''

---

1. *उत्तरी भारत में साथ-साथ खाने पर केवल तभी निषेध है, जब भोजन कच्चा होता है। लेकिन दक्षिण भारत में यह निषेध पूरी तरह है, चाहे भोजन पक्का भी क्यों न हो। कच्चा भोजन पानी से, पक्का घी में बनाया जाता है।*
2. देखिए, मेरी पुस्तक-*हू वर दि शुद्राज*
3. *दि कास्ट सिस्टम आफ नर्दन इंडिया*, पृ. 89-90

निकट संबंधों के बारे में श्री ब्लंट कहते हैं[1] :

> "निकट संबंधों की परंपरा के कारण कई जातियों के शादी व्यवहार में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है। जहां यह लागू होता है, वहां विजातीय विवाह संबंधी समूहों को उनके सामाजिक स्तर के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है, लेकिन देता नहीं है। यह नियम राजदूतों के बीच बहुत ज्यादा प्रचलित है। लेकिन कई अन्य जातियों द्वारा भी इनका पालन किया जाता है.....। वास्तव में लगभग सभी हिंदुओं के बीच अति-संकीर्णता की प्रवृत्ति पाई जाती है।"

संकीर्णता के आधार पर खान-पान और संबंधों में इन नियमों के पीछे क्या चीज रही है? इसके पीछे छोटे-बड़े की भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सभी जातियां इस भावना से ग्रस्त हैं और कोई भी जाति ऐसी नहीं है जो इससे मुक्त हो। हिंदू समाज-व्यवस्था जातियों की एक सीढ़ी है, जिसमें एक के ऊपर एक को रखा गया है यह ऐसी तराजू है, जिसमें घृणा का पलड़ा भारी से भारी होता जाएगा।

यह भावना एक जाति द्वारा दूसरी जाति पर कटाक्ष करने के उद्देश्य से बनाई गई कहावतों में परिलक्षित होता है। इसने निम्न जाति के लेखकों को अपने साहित्य में यह सुझाव देने को भी प्रेरित किया है कि तथाकथित उच्च जाति का उद्‌भव घटिया व शर्मनाक हैं, सहयाद्रि खड़ इसका सबसे बढ़िया उदाहरण है। यह एक पुराण है जो कि अपनी शैली में अन्य परपंरागत पुराणों से भिन्न हैं इसमें भिन्न-भिन्न जातियों के बारे में वर्णन मिलता है। ऐसा करते समय इसमें अन्य जातियों की उत्पत्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। किन्तु ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति को घृणित बताया है इसका उत्तर नकारात्मक है। यह सिद्धांत कि आदमी स्वतंत्र पैदा होता है, हिंदू समाज-व्यवस्था के खिलाफ हैं। यह समाज आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस सिद्धांत को गलत मानता है हिंदू समाज-व्यवस्था के अनुसार हालांकि यह सही है कि सभी मनुष्य इस ब्राह्मांड के सृजक प्रजापति की संतान है, पर वे समान नहीं हैं, क्योंकि वे प्रजापति के शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से पैदा हुए हैं। ब्राह्मण उनके मुंह से, क्षत्रिय उनकी भुजाओं से, वैश्य उनकी जंघा से तथा शूद्र उनके पैरों से पैदा हुए हैं। जिन अंगों से वे पैदा हुए हैं, वे अंग असमान महत्व रखते हैं, इसलिए आंखों के द्वारा पैदा किए गए मनुष्य भी असमान हैं। जीव-विज्ञान के दृष्टिकोण से हिंदू समाज-व्यवस्था यह परवाह नहीं करती कि वह इस सिद्धांत की जांच कराए कि क्या वह तथ्य पर आधारित हैं उन्होंने यह जानने की चेष्टा नहीं की कि प्रत्येक

1. *दि कास्ट सिस्टम आफ नर्दन इंडिया,*

व्यक्ति गुण, स्वभाव और प्राकृतिक रूप से समान है या नहीं। यदि प्राकृतिक और स्वभावगत असमानता रहती है, तो चलो ठीक है फिर तो यह सिद्धांत ही कचरा है कि जन्म से ही सभी भौतिक और प्रवृत्ति के आधार पर समान होते हैं। वास्तव में हिंदू समाज-व्यवस्था इस मत के प्रति उदासीन है। यह इसके नैतिक सिद्धांत के प्रति उतनी ही उदासीन है। यह इस बात को मानने से इंकार करती है कि मनुष्य अलग-अलग हैसियत में क्षमता तथा स्वभाव के दृष्टिकोण से भिन्न होते हुए भी मानव कहलाने के अधिकारी हैं और उन्हें सम्मान मिलना चाहिए तथा समाज की भलाई इसी में हो सकती है कि यदि वह अपने संगठन को इस तरह से योजनाबद्ध करे, भले ही उनकी शक्तियां छोटी या बड़ी हों, इसके सभी सदस्यों के सामन रूप से मौका मिलना चाहिए कि वे अपनी-अपनी शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग व प्रदर्शन करें। परिस्थितियों, संस्थाओं तथा जीवन के तौर-तरीकों को यह समाज-व्यवस्था अनुमति नहीं देगी। यह समतावादी परंपरा के विरुद्ध है।

III

यदि हिंदू समाज-व्यवस्था समानता तथा भाई-चारे पर आधारित नहीं है, तो वह कौन से सिद्धांतों पर टिकी हुई है? इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है। कुछ ही लोग यह समझने में समर्थ होंगे कि वे क्या हैं, लेकिन उनकी प्रकृति और हिंदू समाज पर उनके प्रभाव के बारे में कोई संशय नहीं है। हिंदू समाज-व्यवस्था का पोषण तीन सिद्धांतों द्वारा होता है इनमें सबसे पहला सिद्धांत है, सीढ़ी भेदभाव का व्यवहार। इस चरणबद्ध असमानता का यह सिद्धांत मूल सिद्धांत और विचार से परे है। चारों वर्ण सपाट धारातल पर नहीं रचे गए हैं, जो भिन्न होते हुए भी समान हों। ये सीढ़ीनुम्मा धारातल वाले हैं। ये न केवल भिन्न-भिन्न हैं, वरन् स्थिति में भी असमान हैं और एक दूसरे के ऊपर टिके हुए हैं मनु। की योजनानुसार ब्राह्मण को पहले वर्ण में रखा जाता है उसके नीचे का क्षत्रिय वर्ण होता है। क्षत्रिय से निचले वर्ण का वैश्य होता है वैश्य से निचला वर्ण शूद्र होता है तथा शूद्र से अगला वर्ण जाति शूद्र या अस्पृश्य का होता है। इन वर्गों के बीच अग्रता का यह क्रम मात्र परंपरागत नहीं है। यह आध्यात्मिक, नैतिक तथा वैधानिक हैं। जीवन का कोई भी हिस्सा नहींहै, जो वर्गीकृत असमानता के इस सिद्धांत से अछूता हो।

इसके पक्ष में मनुस्मृति के अनेक दृष्टांत दिए जा सकते हैं। मैं इस बात को सिद्ध करने के लिए चार उदाहरण दूंगा। ये है। दासता का नियम, विवाह का नियम, दंड का नियम और संस्कार का नियम तथा संन्यास का नियम। हिंदू 'नियम दासता को एक कानूनी प्रथा मानते हैं मनुस्मृति में तो सात प्रकार की दासता की उल्लेख है।

नारदस्मृति में दासता की पंद्रह श्रेणियां मिलती हैं। दासों की संख्या का यह अंतर तथा वे वर्ग जिनके अंतर्गत ये आते हैं, महत्वपूर्ण नहीं हैं महत्वपूर्ण तो यह जानना है कि कौन किसको दास बना सकता है। इस संबंध में नारदस्मृति तथा याज्ञवल्कक्यस्मृति से निम्नांकित उद्धरण दिए जा सकते हैं :

> नारदस्मृति : 5.39 चारों वर्णों के उल्टे क्रम में दासता की कोई व्यवस्था नहीं है, सिवाय इसके जब कोई आदमी अपनी जाति के लिए निर्धारित कर्तव्यों की अवहेलना करता है दासता (इस मामले में) एक पत्नी की स्थिति जैसी होती है।
>
> याज्ञवल्क्यस्मृति : 16.183 (2) दासता वर्णों के अवरोही क्रम में होती है, आरोही क्रम में नहीं।

दासता के मान्यता प्रदान किया जाना बहुत बुरी बात थी लेकिन यदि दासता के नियम को अपने ही हाल पर छोड़ दिया गया होता, तो इसका कम से कम एक परिणाम तो अच्छा होता। इससे समानता को बल मिलता। जाति परंपरा नष्ट हो गई होती, क्योंकि इसके अंतर्गत एक ब्राह्मण अस्पृश्यों का दास बन सकता था तथा अस्पृश्य ब्राह्मणों के मालिक बन सकते थे। लेकिन यह देखा गया कि बेरोक-टोक दासता का एक समतावादी सिद्धांत था और इसे निरस्त करने का प्रयास किया गया। अतः मनु तथा उनके उत्तरवर्तियों ने इस प्रकार की दासता को मान्यता प्रदान की कि यह वर्ण-प्रथा के विपरीत दिशा में नहीं होगी इसका तात्पर्य यह है कि एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण का दास बन सकता है लेकिन वह किसी दूसरे वर्ण के आदमी का दास नहीं बन सकता अर्थात् वह किसी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अतिशूद्र का दास नहीं बन सकता। दूसरी ओर, ब्राह्मण या क्षत्रिय को नहीं। एक शूद्र किसी दूसरे शूद्र तथा अतिशूद्र को अपना दास बना सकता है, लेकिन किसी ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य को नहीं। एक अतिशूद्र किसी दूसरे अतिशूद्र को ही अपना दास बना सकता है, लेकिन किसी ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र को नहीं।

वर्गीकृत असमानता के इस सिद्धांत का एक और उदाहरण शादी-विवाह के नियमों में देखा जा सकता है। मनु कहता है :

> 3.12 द्विजों की पहली शादी के लिए उसी जाति की स्त्री की संस्तुति की जाती है, परंतु ऐसे लोगों के लिए, जिन्हें किसी कारण से पुनर्निवाह करना हो, उसमें वर्णों के सीधे नीचे वर्ण की स्त्रियों को वरीयता दी जाती है।

> 3.13 एक शूद्र स्त्री केवल शूद्र की पत्नी बन सकती है, वैश्य स्त्री एक वैश्य की पत्नी बन सकती है। वह दोनों तथा क्षत्रिय स्त्री किसी क्षत्रिय की पत्नियां बन सकती हैं। वह तीनों तथा ब्राह्मणी ब्राह्मण की पत्नियां बन सकती हैं।

वस्तुतः मनु अंतर्जातीय विवाह के खिलाफ हैं उनकी व्यवस्था हरेक वर्ग के लिए अपने ही वर्ग में शादी-विवाह करने की है लेकिन वह परिभाषित वर्ग के बाहर भी शादी करने को मान्यता देता है। यहां फिर वह वर्गों के बीच असमानता के अपने सिद्धांत को कोई हानि न होने देने के लिए अंतर्जातीय विवाह के प्रति विशेष रूप से सजग हैं। दासता की तरह वह अंतर्जातीय विवाह की अनुमति तो देता है, पर उल्टे क्रम में नहीं। दासता की तरह वह अंतर्जातीय विवाह की अनुमति तो देता है, पर उल्टे क्रम में नहीं। यदि कोई ब्राह्मण अपनी बिरादरी से बाहर विवाह कर सकता है तो वह अपने से निचले वर्ण की किसी भी स्त्री से विवाह करने के लिए स्वतंत्र है, अर्थात् वह वैश्य तथा शूद्र स्त्री के साथ विवाह कर सकता है, लेकिन अपने से ऊपर के ब्राह्मण वर्ण की स्त्री के साथ विवाह नहीं कर सकता है, लेकिन वह अपने से उच्च वर्णों, ब्राह्मण स्त्री तथा क्षत्रिय स्त्री से विवाह नहीं कर सकता।

तीसरा उदाहरण विधान के नियम में पाया जा सकता है, जिसकी स्थापना मनु ने की है। पहला उदाहरण गवाहों के साथ किए जाने वाले बर्ताव से संबंधित है, गवाहों को निम्नांकित ढंग से शपथ लेनी होती है :

> 8.87 शुद्ध हृदय न्यायकर्ता शुद्ध तथा सत्य वक्ता द्विज को कई बार पुकारेगा कि वह किसी देवता की प्रतिमा या ब्राह्मण की प्रतीक प्रतिमा के समक्ष पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके पूर्वाह्न समय में अपनी गवाही दे।
>
> 8.88 न्यायधीश ब्राह्मण से ''कहो'' क्षत्रिय से 'सत्य कहो' वैश्य से गो बीज और स्वर्ण की चोरी के पाप की झूठी गवाही से तुलना करते हुए तथा शूद्र से उन सभी पापों जो मनुष्य कर सकता है, के दोषों की झूटी गवाही से तुलना करते हुए गवाही देने को कहेगा।

मनु द्वारा निर्धारित अपराधों के दंड का उदाहरण लें। सबसे पहले मानहानि के लिए दंड की चर्चा करते हैं :

> 8.267 यदि कोई क्षत्रिय किसी पुरोहित की मानहानि करता है तो उस पर सौ पण का जुर्माना किया जाएगा, यदि कोई वैश्य पुरोहित की मानहानि करता है तो उस पर एक सौ पचास या दो सौ पण का जुर्माना किया जाएगा; लेकिन ऐसे किसी अपराध के लिए किसी शिल्पी या दास व्यक्ति को कोड़े लगाए जाएंगे।

8.268 यदि कोई पुरोहित किसी क्षत्रिय की मानहानि करे तो उस पर पचास पण का जुर्माना किया जाएगा यदि वह किसी वैश्य की मानहानि करता है तो उस पर पच्चीस पण का जुर्माना किया जाएगा तथा दास वर्ग के किसी व्यक्ति की भर्त्सना करने पर उस पर बारह पण का जुर्माना किया जाएगा।

अपमान का अपराध लें। मनु द्वारा निर्धारित दंड इस प्रकार है :

8.270 यदि कोई शूद्र व्यक्ति किसी द्विज की घोर भर्त्सना करता है तो उसकी जीभ काट दी जाए। क्योंकि उसने ब्रह्मा के निम्नतम भाग से जन्म लिया है।

8.2.71 यदि शूद्र उनके नामों तथा वर्णों का अपमानपूर्ण तरीके से उल्लेख करता है, मानो वह कहता है, अरे देवदत्त, तू ब्राह्मण नहीं है तो दस अंगुली लंबी लोहे की गर्म शलाका उसके मुंह में डाली जाएगी।

8.272 यदि शूद्र घमंडपूर्वक पुरोहितों को उनके कर्तव्यों के लिए निर्देश देता है, तो राजा उसके मुंह तथा कान में गर्म तेल डालने का आदेश देगा।

गाली देने के अपराध का दंड। मनु कहता है :

8.276 यदि कोई पुरोहित तथा क्षत्रिय आपस में गाली-गलौज करते हैं तो इस संबंध में जुर्माना विद्वान राजा द्वारा किया जाएगा और वह दंड या जुर्माना पुरोहित पर सबसे कम तथा क्षत्रिय पर उससे अधिक किया जाएगा।

8.277 उपरोक्त अपराध यदि कोई वैश्य शूद्र करते हैं तब उन्हें जबान काटने की सजा छोड़कर शेष सभी प्रकार का दंड उनकी जाति के अनुसार दिए जाएं, दंड का यह निर्धारित नियम है।

प्रहार या मारपीट के अपराध के दंड के रूप में मनु का सिद्धांत इस प्रकार है:

8.279 जिस अंग द्वारा नीच जाति में जन्मा व्यक्ति ऊंची जाति के व्यक्ति पर हमला करेगा या उसे चोट पहुंचाएगा, उसका वह अंग काट लिया जाएगा, यह मनु का अध्यादेश है।

मनु के अनुसार अहंकार के अपराध का दंड इस प्रकार होगा :

8.281 नीच जाति का कोई व्यक्ति यदि उच्च जाति के व्यक्ति के साथ उसी स्थान पर अभद्रता के साथ बैठेगा, तो उसके कूल्हे को दाग दिया जाएगा तथा उसे देश निकाला दे दिया जाएगा या राजा उसके नितंब पर गहरा घाव करवा देगा।

8.282 यदि वह घमंड के साथ उस पर थूकता है, तो राजा उसके दोनों होठों को यदि वह उस पर पेशाब करता है तो उसके लिंग को यदि वह अपाल वायु छोड़े तो उसकी गुदा को कटवा देगा।

8.283 यदि वह ब्राह्मण को बालों से पकड़ता है, या इसी तरह यदि वह उसका पैर या गला या अंडकोष पकड़कर खींचता है, तो राजा बिना किसी हिचक या संकोच के उसके हाथों को कटवा दे।

व्यभिचार के अपराध के लिए दंड के बारे में मनु कहता है :

8.3.59 यदि कोई शूद्र किसी पुरोहित की पत्नी के साथ वास्तव में व्यभिचार करता है, तो उसे मृत्यु दंड मिलना चाहिए, पत्नियों के मामले में सभी चारों वर्णों की स्त्रियों की विशेष रूप से रक्षा की जानी चाहिए।

8.366 यदि कोई शूद्र किसी उच्च जाति की युवती से प्यार करता है, तो उसे मृत्यु का दंड मिलना चाहिए परंतु यदि वह कोई समान वर्ग की किसी कन्या से प्यार करता है, तो उसे उस कन्या से शादी करनी होगी, बशर्ते कि उस कन्या का पिता इसके लिए इच्छुक हो।

8.374 यदि कोई शूद्र किसी द्विज स्त्री के साथ सम्भोग करता है, चाहे वह स्त्री घर पर सुरक्षित है अथवा असुरक्षित, उसे उसी प्रकार दंड दिया जाएगा यदि स्त्री असुरक्षित है तो अपराधी के लिंग को कटवा कर तथा उसकी संपत्ति को जब्त कर दंडित किया जाए। यदि वह रक्षित है तो अपराधी की संपत्ति को जब्त कर उसे प्राण दंड दिया जाए।

8.3.75 रक्षित ब्राह्मण के साथ व्यभिचार करने पर वैश्य एक वर्ष की सजा के बाद अपनी समस्त धन संपत्ति खो देगा। क्षत्रिय पर एक हजार पण जुर्माना किया जाएगा और गधे के मूत्र से उसका मुंडन किया जाएगा।

8.3.76 लेकिन यदि कोई वैश्य या क्षत्रिय किसी अरक्षित ब्राह्मणी के साथ व्यभिचार करता है, तो राजा वैश्य पर पंच सौ पण तथा क्षत्रिय पर एक हजार पण का केवल जुर्माना करेगा।

8.3.77 लेकिन यदि ये दोनों किसी न केवल रक्षित पुरोहितानी वरन् किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की पत्नी के साथ व्यभिचार करते हैं, तो वे शूद्रों के समान दंडनीय है और तृणाग्नि में जलाने योग्य है।

8.382 यदि कोई वैश्य किसी रक्षित क्षत्रिय स्त्री के साथ या कोई क्षत्रिय किसी रक्षित वैश्य स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो उन दोनों को वही दंड दिया जाएगा जो अरक्षित ब्राह्मण के मामले में दिया जाता है।

8.383 लेकिन यदि कोई ब्राह्मण इन दोनों वर्णों की किसी रक्षित स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, तो उस पर एक हजार पण का जुर्माना किया जाना चाहिए, और शूद्र स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर क्षत्रिय या वैश्य पर भी एक हजार पण का जुर्माना किया जाना चाहिए।

> 8.384 यदि कोई वैश्य किसी रक्षित क्षत्रिय स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो जुर्माना पांच सौ पण होगा, लेकिन यदि कोई क्षत्रिय किसी वैश्य स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो उसका सिर मूत्र में मुंडवा देना चाहिए या उससे उल्लिखित जुर्माना लेना चाहिए।

हिंदू तथा गैर हिंदू अपराध न्याय-शास्त्र में कितना विचित्र अंतर है। हिंदूत्व में कितनी असमानता है, यह उसके अपराध न्याय-शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। न्याय की भावना से युक्त दंड संहिता में हमें दो चीजें देखने को मिलती हैं- एक वह वर्ग जो अपराध को परिभाषित करने का कार्य करता है तथा दूसरा वह वर्ग जो अपराध करने के लिए दंड के न्यायोचित स्वरूप का निर्धारण और नियमों का निर्धारण करता है कि अपराध करने वाले सभी लोग समान दंड के अधिकारी हैं। लेकिन मनु में हम क्या पाते है? पहले तो दंड की प्रणाली न्यायोचित नहीं है। किसी अपराध का दंड संबंधित उद्‌गम अंग को दिया जाता है, जैसे पेट, जीभ, नाक, आंख, कान, जनद्रिय आदि, मानों कि अपराध करने वाले अंग की कोई अलग इच्छा हो और जो मानव की अतिजीवी सत्ता नहीं हैं। मनु की दंड संहिता की दूसरी विशेषता यह है कि इसके अंतर्गत दंड की प्रकृति अमानवीय है, जो अपराध की गंभीरता से मेल नहीं खाती है। लेकिन उसकी सबसे अधिक विस्मयकारी विशेषता उस समय अपने विकराल रूप में दिखाई देती है, जब एक ही अपराध के लिए असमान दंड दिया जाता है। यह असमानता न केवल अपराधकर्ता को दंडित करने के लिए बनाई गई है, बल्कि मर्यादा की रक्षा करने और न्याय पाने के लिए न्यायालय में आने वाले पक्षों की अधीनता को बनाए रखने के लिए बनाई गई है, दूसरे शब्दों में, यह सामाजिक असमानता को बनाए रखने के लिए बनाई गई है। जिस पर उनकी पूरी योजना आधारित है।

क्रमिक असमानता का यह सिद्धांत आर्थिक क्षेत्र में भी घुसा बैठा है। हिंदू समाज-व्यवस्था का सिद्धांत यह नहीं है कि 'किसी की हैसियत के अनुसार लो और आवश्यकतानुसार दो'। हिंदू समाज-व्यवस्था का सिद्धांत है, आवश्यकतानुसार लो और श्रेष्ठता के अनुसार दो। मानो कि कोई अधिकारी अकाल से पीड़ित लोगों को अनुदान बांट रहा हो, तो वह निम्न वर्ग के कामों की तुलना में उच्च वर्ग के लोगों को अधिक अनुदान देने के लिए बाधय होगा।[1] इसी तरह मानो कोई अधिकारी कर लगा रहा हो तो वह उच्च वर्ग के व्यक्ति पर कम कर लगाएगा और निम्न वर्ग के व्यक्ति पर अधिक कर लगाएगा। हिंदू समाज-व्यवस्था समान आवश्यकता, समान

1. उक्त उदाहरण मात्र कल्पना पर आधारित नहीं है, इतिहास पर आधारित तथ्य है। ऊंच तथा नीच के अंतर के पेशवा के समय में कानून द्वारा मान्यता प्रदान की गई। अनुदान के बाद में जो अंतर है, वह आज भी बंबई प्रेसिडेंसी में देखने को मिलता है और एक कांग्रेसी मंत्री द्वारा इसका पक्ष लिया गया। यह सब आज प्रयोग में नहीं है - संपादक

कार्य, या समान योग्यता पर समान पारिश्रमिकता को मान्यता प्रदान नहीं करती। जीवन में अच्छी चीजों के वितरण के संबंध में इसका एकमात्र लक्ष्य यह है कि जिन लोगों को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, उन्हें सबसे अधिक और सबसे अधिक मिलना चाहिए और जो लोग निम्न वर्ग के अंतर्गत आते हैं उन्हें निम्नतम तथा निकृष्टतम पर ही संतोष कर लेना चाहिए।

यह सिद्ध करने के लिए और कुछ आवश्यक प्रतीत नहीं होता हो कि हिंदू समाज व्यवस्था वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत पर आधारित है। यह सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापक है। सामाजिक जीवन का प्रत्येक पक्ष समानता के खतरे के प्रति सचेत है।

हिंदू समाज व्यवस्था का दूसरा सिद्धांत जिस पर हिंदू समाज व्यवसायी आधारित है, वह प्रत्येक वर्ग के लिए व्यवसाय का निर्धारण और वंशानुक्रम के आधार पर उसके जारी रहने का सिद्धांत हैं मनु चारों वर्णों के व्यवसायों के बारे में ऐसा कहता है रु

> 1.87 इस ब्रह्मांड की रक्षा करने हेतु, ईश्वर ने अपने मुंह, अपनी भुजा, अपनी जंघा तथा अपने पैरों से पैदा हुए लोगों के लिए अलग-अलग व्यवसाय (कर्म) निर्धारित किए।
>
> 1.88 ब्राह्मणों के लिए उसने पढ़ना और पढ़ाना (वेद), अपने तथा दूसरों के लाभ के लिए यज्ञ कराना और करना, दान देना और लेना, कर्म निर्धारित किए हैं।
>
> 1.89 लोगों की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन (वेद) करना, विषय में अशक्ति नहीं रखना, कर्मों का आदेश उसने क्षत्रिय के लिए दिया है।
>
> 1.90 वैश्यों के लिए पशुओं को पालना, दान देना, यज्ञ करना, धार्मिक ग्रंथों को पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज पर पैसा उधार देना, खेती करना जैसे कार्य निर्धारित किए गए हैं या उन्हें करने की अनुमति दी गई है।
>
> 1.91 ब्रह्मा ने शूद्र के लिए जो एक सबसे प्रमुख कार्य सौंपा है, वह है बिना किसी उपेक्षाभाव के उक्त तीनों वर्गों की सेवा करना।
>
> 10.74 ऐसे ब्राह्मण जो उत्कृष्ट देवत्व प्राप्त करने के इच्छुक हैं और अपने कर्तव्य के प्रति दृढ़ है, वे छह कार्यों को क्रमानुसार पूर्णरूपेण निष्पादित करें।
>
> 10.75 वेदों का अध्ययन करना, दूसरों को वेदों का अध्ययन कराना, दूसरों को यज्ञ करने में सहायता करना, अपने पास प्रचुर संपत्ति होने पर गरीबों को दान देना, स्वयं के गरीब होने पर सदाचारी लोगों से दान स्वीकार करना ये अग्रज वर्ग के छह निधारित कार्य हैं।

> 120.76 ब्राह्मण के इन छह कार्यों में से ये तीन कार्य उसकी जीविका से संबधित हैं, यज्ञ करने में सहायता कराना, वेदों का अध्यापन तथा सदाचारी व्यक्ति से दान प्राप्त करना।
>
> 10.77 ये तीन कार्य ब्राह्मण के लिए सुरक्षित हैं, और उन्हें क्षत्रिय नहीं कर सकता, वेदों का अध्यापन, यज्ञ कराना तथा तीसरा, दान स्वीकार करना।
>
> 10.78 ये उपरोक्त तीनों कार्य (निर्धारित कानून के अनुसार) वैश्य के लिए निषिद्ध हैं, क्योंकि लोकाधिपति मनु ने क्षत्रिय और वैश्य, दोनों वर्गों के लिए इन कार्यों को निर्धारित नहीं किया है।
>
> 10.79 क्षत्रिय की जीविका के साधन हैं, जैसे शस्त्र धारण करना, या तो हमला करने के लिए या हाथ से चलाने वाले शस्त्र वैश्य के लिए व्यापार, पशु पालन तथा कृषि; लेकिन अपने अग्रिम जीवन को सफल बनाने के लिए भिक्षा देना, अध्ययन करना तथा यज्ञ कराना दोनों के कर्म हैं।

प्रत्येक सदस्य उस वर्ण–विशेष के लिए निर्धारित व्यापार को ही करेगा, जिस वर्ण का वह है। इसमें व्यक्तिगत चयन, व्यक्तिगत रूझान का कोई स्थान नहीं है। हिंदू समाज–व्यवस्था से बंधा हुआ है। यह एक ऐसा कठोर नियम है कि इससे बचा नहीं जा सकता।

यह सिद्धांत व्यवसाय के निर्धारण तक ही सीमित नहीं रह जाता। यह कई व्यवसायों को उनके सम्मान की दृष्टि से श्रेणीद्ध भी करता है। मनु कहता है :

> 10.80 जीविकोपार्जन के लिए अनेक व्यवसायों में से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों के लिए सबसे अधिाक प्रशंसनीय व्यवसाय क्रमशः वेदों को पढ़ना व पढ़ाना लोगों की रक्षा करना तथा व्यापार करना है।

हिंदू समाज–व्यवस्था का तीसरा सिद्धांत जिस पर हिंदू समाज–व्यवस्था आधारित है, वह लोगों को उनके संबंधित वर्णों के खूंटे से बांधना है। यह कोई विचित्र बात नहीं है, कि हिंदू समाज–व्यवस्था वर्णों को स्वीकारती है। हर जगह वर्ग हैं और कोई भी समाज वर्गहीन समाज नहीं है। परिवार, दल क्लब, राजनीतिक दल, आपराधिक षड्यंत्रों में संलग्न अवैध गिरोह, लोगों को लूटने वाले व्यावसायिक निगम संसार के सभी भागों में तथा सभी समाजों में पाए जाते हैं। स्वतंत्र व्यवस्था भी वर्गों से छुटकारा नहीं पा सकती। स्वतंत्र समाज व्यवस्था का उद्देश्य व लक्ष्य पृथक्करण व अलगाव को रोकना होता है। जो वर्गों द्वारा अनुकरण करने के लिए एक आदर्श स्थिति मानी जाती है। चूंकि जो वर्ग पृथक्करण और अलगाव नहीं अपनाते हैं, वे एक दूसरे के प्रति अपने अपने संबंधों में असामाजिक माने जाते हैं। पृथक्करण और अलगाव उन्हें एक दूसरे के प्रति असामाजिक तथा विरोधी बना देते हैं। पृथक्करण से वर्ग–चेतना के संबंध में कठोरता आ जाती है,

सामाजिक जीवन लाभबंद हो जाता है और स्वार्थी तत्व आदर्शवादी तत्वों पर छा जाते हैं। पृथक्करण से जीवन गतिहीन हो जाता है, विशेषाधिकार-युक्त और गैर-विशेषाधिकार युक्त मालिक तथा नौकर के बीच अलगाव बना रहता है।

किसी समाज में वर्गों का होना स्वतंत्र समाज-व्यवस्था के लिए उतना प्रतिकूल नहीं है, जितना कि पृथक्करण और अलगाव की भावना। स्वतंत्र समाज-व्यवस्था के अंतर्गत समाज में समरसता की धारा प्रवाहित रहती है। यह केवल तभी संभव है, जब वर्गों को सामान्य हितों, उत्तरदायित्वों में भागीदारी करने का अवसर मिले और सामान्य रूप से जीवन मूल्यों का अधिकार मिले, यदि चारों ओर स्वतंत्र व्यवस्था हो जाए जिसके अंतर्गत लेन-देन के समान अवसर उपलब्ध हों, तो ऐसे समाज संबंधों से रीति रिवाज, मानसिक दृष्टिकोण सजग तथा व्यापक होता है और इसके लिए काल ही नहीं, विचारों की गतिशीलता की आवश्यकता है। हिंदू समाज-व्यवस्था के बारे में जो चीज ध्यान आकर्षित करती है, वह हिंदू समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आंतरिक विवाद पर प्रतिबंध रोक है इसके अंतर्गत दूसरी जाति के साथ भोजन करने और अंतर्जातीय विवाह पर प्रतिबंध है। लेकिन मनु तो सामान्य सामाजिक संसर्ग तक का निषेध करता है। मनु के अनुसार :

> 4.244 वंश को उन्नत करने की इच्छा करने वाला सर्वदा बड़ों के साथ संबंध करे और अपने से नीचों को छोड़ दे।
>
> 4.245 बड़ों के साथ संबंध करता हुआ और नीचों का त्याग करता हुआ ब्राह्मण श्रेष्ठता को पाता है। इसके विरुद्ध आचरण करता हुआ शूद्रता को पाता है।
>
> 4.79 उसे बड़े अपराधों के लिए जाति से निष्कासित पतित व्यक्ति, चांडाल, पुल्कस, मूर्ख धन के कारण अभिमानी, अंतयज और अन्त्यावसायी के साथ एक ही वृक्ष की छांव में नहीं बैठना चाहिए।

हिंदू समाज-व्यवस्था भाईचारे के खिलाफ है इसमें समानता के सिद्धांत को कोई स्थान नहीं है। समानता को मान्यता प्रदान करने के बजाय यह असमानता को अपना अधिकारिक सिद्धांत बनाती है। स्वतंत्रता के बारे में स्थिति यह है कि व्यवसाय के चयन के बारे में कोई स्वतंत्रता नहीं है। प्रत्येक का उसके लिए निर्धारित अपना व्यवसाय है। उसे तो बस वही करते रहना है। जहां तक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल है, यह स्वतंत्रता है, लेकिन यह केवल उन्हीं लोगों के लिए है, जो समाज-व्यवस्था के पक्षधर हैं। ऐसी स्वतंत्रता नहीं है जिसके बारे में वाल्टेयर ने कहा था, आप जो कुछ भी कहते हैं मैं उसे पूरी तरह से अस्वीकृत करता हूं और मैं मरते दम तक ऐसा कहने के इस अधिकार की रक्षा करूंगा। यह उस समय स्पष्ट हो जाता है, जब मनु तर्क-शास्त्र तथा न्याय के बारे में कहता है :

4.29-30 जिस गृहस्थ के घर में शक्ति के अनुसार, आसन, भोजन, शैया जल और कंद मूल से अतिथि का सम्मान नहीं होता, उसमें कोई अतिथि निवास न करे।

उसे विधर्मी, वे व्यक्ति जो निषिद्ध व्यवसाय करते हैं, वे लोग जो बिल्लियों, दुष्टों, तर्क-शस्त्रियों (वेदों के खिलाफ बहस करने वाले) और वक की तरह रहते हैं, ऐसे लोगों द्वारा किए जाने वाले सम्मान को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

2.10 वेद को श्रुति और धर्म-शास्त्र को स्मृति जानना चाहिए, वे सभी विषयों में तर्क के योग्य नहीं हैं, क्योंकि उन दोनों में ही धर्म का प्रादुर्भाव होता है।

2.11 प्रत्येक द्विज, जो न्यायविदों पर निर्भर करता है, और तर्क-शास्त्र तथा उपचार इन दोनों श्रोतो (कानून के) को घृणा की दृष्टि से देखता है, वेद-निदंक वह मनुष्य सज्जनों द्वारा बहिष्कृत करने योग्य है।

2.12 वेद, पवित्र स्मृति, आचार और मन की प्रसन्नता-ये चार धर्म के साक्षात लक्षण हैं।

इसका कारण उस समय स्पष्ट हो जाता है, जब मनु कहता है :

2.6 सब वेद, उनको जाननने वालों की स्मृति और ब्राह्मणत्व, महात्माओं का आचरण और अपने मन की प्रसन्ता - ये सब धर्म के मूल हैं।

2.7 मनु ने जिस किसी का जो धर्म कहा है, वह धर्म वेदों में कहा गया है। मनु सब वेदों के अर्थों के ज्ञाता हैं।

इस स्वतंत्रता में न्यायविदों क लिए कोई स्वतंत्रता नहीं है, तर्कशास्त्रियों के लिए समाज-व्यवस्था की समालोचन की भी स्वतंत्रता नहीं है, जिसका तात्पर्य यह है कि कहीं भी कोई स्वतंत्रता नहीं है।

कार्य करने की स्वतंत्रता की स्थिति कैसी है? कार्य-चयन के मामले में हिंदू समाज-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है। हिंदू समाज-व्यवस्था व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं देती है उसके व्यवसाय को स्वयं निर्धारित करती है यह उसकी हैसियत भी निर्धारित करती है। व्यक्ति विशेष को तो विधान का पालन ही करना होता है।

ठीक यही बात राजनीतिक स्वतंत्रता के बारे में कहीं जा सकती है। हिंदू समाज-व्यवस्था में लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों से बनी प्रतिनिधि सरकार की आवश्यकता को कोई मान्यता नहीं दी जाती। प्रतिनिधा सरकार इस सिद्धांत पर आधारित होती है कि लोगों पर कानून का राज्य हो और कानून लोगों के प्रतिनिधियों द्वारा ही बनाया जा सकता है। समाज-व्यवस्था में इस प्रतिपाद्य विषय के प्रथम भाग

को ही मान्यता प्रदान की है, जिसके अनुसार लोगों के ऊपर कानून का राज्य होगा। लेकिन यह इस प्रतिपाद्य विषय के दूसरे भाग की उपेक्षा करती है, जिसके अनुसार नियम (कानून) लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा ही बनाए जा सकते हैं। हिंदू समाज-व्यवस्था का सिद्धांत यह है कि जिस कानून के द्वारा लोग शासित होते हैं, वह कानून पहले से ही बना हुआ है और वह वेदों में उपलब्ध है। किसी को भी इस कानून में संशोधन का अधिकार नहीं है। ऐसा होने के कारण लोगों द्वारा चुनी गई प्रतिनिधि सभा अनावश्यक हो जाती है। राजनीतिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता होती है, जिसमें कानून बनाने की स्वतंत्रता होती है और सरकार को बनाने या बदलने का कोई तात्पर्य नहीं है जिसके लिए हिंदू समाज-व्यवस्था में स्थान ही नहीं है।

संक्षेप में, हिंदू समाज-व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है, जो वर्णो पर आधारित है, न कि व्यक्तियों पर। यह वह व्यवस्था है, जिसमें वर्णो को एक-दूसरे के ऊपर श्रेणीबद्ध किया गया है। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें वर्णों की प्रतिष्ठा तथा कार्यनिर्धारण निश्चित है। हिंदू समाज-व्यवस्था एक कठोर सामाजिक प्रणाली है। इस बात से उसे कोई लेना-देना नहीं कि किसी व्यक्ति के पद और प्रतिष्ठा में अपेक्षाकृत परिवर्तन हो, लेकिन वह जिस वर्ण में पैदा हुआ है, उस वर्ण के सदस्य के रूप में उसकी सामाजिक स्थिति दूसरे वर्ण के दूसरे व्यक्ति के संदर्भ में किसी भी तरह से प्रभावित नहीं होगी। उच्च वर्ण में जन्में और निम्न वर्ण में जन्में व्यक्ति की नियति उसका जन्मजात वर्ण ही है।

अध्याय 3

हिंदू समाज-व्यवस्था : इसकी अनोखी विशेषताएं

अब तक हमारी चर्चा हिंदू समाज-व्यवस्था के मूलभूत तत्वों का वर्णन करने तक सीमित थी। अपने मूल तत्वों के अतिरिक्त हिंदू समाज-व्यवस्था की कुछ अनोखी विशेषताएं हैं ये अनोखी विशेषताएं उतनी ही महत्वपूर्ण हैं, जितने कि मूल तत्व। हिंदू समाज-व्यवस्था का ऐसा अध्ययन, जिसमें इनका उल्लेख नहीं है, अपूर्ण या असंगत माना जाएगा।

ये विशिष्ट विशेषताएं क्या है? हिंदू समाज-व्यवस्था की विशिष्ट विशेषताएं तीन हैं। इन तीनों में सबसे महत्वपूर्ण विशेषता महामानव ब्राह्मण की पूजा करना है। इस संबंध में हिंदू समाज-व्यवस्था नीत्शे के सिद्धांत को कार्यरूप में परिणत करने के अलावा और कुछ भी नहीं है। तीत्शे ने स्वयं भी कभी महामानव के अपने सिद्धांत की मौलिकता को कोई दावा नहीं किया। उसने यह स्वीकार किया तथा माना कि यह मनुस्मृति से उधार लिया है। अपनी एंटी क्राइस्ट नामक पुस्तक में नीत्शे कहता है :

> "आखिरकार, प्रश्न यह है कि झूठ किस उद्देश्य से पोषित किए जाते हैं? यह तथ्य है कि ईसाई धर्म पवित्र उद्देश्यों से शून्य है। इस कारण से मेरी आपत्ति इसके साधनों के संबंध में है। इसके साध्य भी बुरे हैं। विषवमन, जीवन की निस्सारता, शरीर का तिरस्कार, पाप के तिरस्कार द्वारा मनुष्य का पतन तथा स्व-अवमूल्यन - परिणामस्वरूप इसके साधन भी अशुभ हैं। जब मैंने मनु की कानून की पुस्तक को पढ़ा तो इसके बारे में मेरे विचार बिल्कुल विपरीत हो गए। इसका एक ही सांस में बाइबिल के साथ नाम लेना पाप तुल्य होगा। अब आप तुरंत ही अनुमान लगा सकते हैं कि इसके पीछे वास्तविक दर्शन क्यों है इसमें यहूदियों के सड़े रब्बीवाद और अंधविश्वास की केवल दुर्गंध आती है। बल्कि इसमें सर्वाधिक सर्वगुण संपन्नतावादी मनोविज्ञानी की चर्चा भी करने का भी कुछ मसाला मिलता है और इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात जो न भूलने योग्य है, वह यह है कि यह बाइबिल के मूलरूप से भिन्न है। इसके माध्यम से कुलीन वर्ग, दर्शनिक तथा योद्धा गण जनता-जनार्दन की रक्षा तथा मार्गदर्शन करते हैं। यह उच्च मूल्यों से सराबोर है। यह पूर्णता की भावना से परिपूर्ण है तथा इसमें

> जीवन की स्वीकारोक्ति है, स्वयं जीवन के प्रति कल्याण की विजयानभूमि है – कुल मिलाकर यह पुस्तक अति श्रेष्ठ है। प्रसव, औरत, शादी–विवाह संबंधी वे सभी बातें, जो इसाई धर्म में अगाध अश्लीलता से भरी पड़ी हैं, इनको यहां बड़ी सहजता, सम्मान, प्यार तथा विश्वास के साथ वर्णित किया गया है। भला कोई ऐसी पुस्तक को बच्चों या औरतों के हाथ में कैसे दे सकता है, जिसमें अश्लील शब्द भरे पड़े हैं, व्यभिचार रोकने के लिए हरेक आदमी की अपनी पत्नी और हर औरत का अपना पति होना चाहिए (कामाग्नि) जल जाने से शादी करना ज्यादा बेहतर होता है और जब तक आदमी की उत्पत्ति को ही ईसाई धर्म में न बदल दिया, तब क्या ईसाई होना अच्छी बात है। अर्थात् कुमारी केरी के गर्भाधारण द्वारा कलुकषित किया जाता हैं''।

नीत्शे को कभी भी अपने देश में कोई सम्मानजक या महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हुआ और न लोगों ने उसे गंभीतरता से सुना। उसके अपने ही शब्दों में कभी कुलीन वर्ग तथा सामंत वर्ग के दार्शनिक के रूप में उसका विरोध किया गया, कभी उसकी खिल्ली उड़ाई गई, कभी उस पर दया दिखाई गई तथा कभी एसके अमानवीय प्राणी के रूप में बहिष्कृत किया गया। नीत्शे का दर्शन है सत्तालोलुपता हिंसावृत, आध्यात्मिकता का परित्याग, महामानव के हित में सामान्य जल की दासता और अधोगति। उसके दोषपूर्ण दर्शन ने उसके अपने ही समय के लोगों के दिलो–दिमाग में जुगुप्सा तथा भय उत्पन्न किया था। यदि उसे बहिष्कृत नहीं किया गया तो उसे उपेक्षित तो पूरी तरह से किया गया, और नीत्शे ने स्वयं अपने को मरणोत्तर व्यक्तियों की श्रेणी में रख लिया था। उसने सोचा था कि सदियों के बाद जनता उसके कार्यों के लिए उसकी प्रशंसा करेगी। यहां फिर नीत्शे को निराशा ही हाथ लगी। उसके दर्शन की प्रशंसा होने के बजाए समय के साथ लोगों के मन में नीत्शे के लिए भय और घृणा की भावना बढ़ी। नीत्से के दर्शन की दुष्ट प्रकृति को देखते हुए कुछ लोग तो यह विश्वास भी नहीं करेंगे कि हिंदू समाज व्यवस्था महामानव की पूजा पर आधारित है।

देखें इस विषय में *मनुस्मृति* क्या कहती है। हिंदू समाज व्यवस्था में ब्राह्मण की स्थिति के बारे में मनु का विचार इस प्रकार है :

> 1.93 ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने से ज्येष्ठ होने से और वेद के धारण करने से धर्मानुसार ब्राह्मण ही संपूर्ण सृष्टि का स्वामी होता है।
>
> 1.94 स्वयंभू उस ब्रह्मान हव्य तथा कव्य को पहुंचाने क लिए और संपूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही अपने मुख से उत्पन्न किया।
>
> 1.95 ब्राह्मण के मुख से देवता लोग हव्य तथा पितर लोग कव्य को खाते हैं। अतः ब्राह्मण से अधिक श्रेष्ठ कौन प्राणी होगा।

1.96 भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ है, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है।

मनु ने ब्राह्मण के प्रथम श्रेणी में होने के पक्ष में कारण बताते हुए कहा है, चूंकि ईश्वर ने उसे सबसे पहले अपने मुख से पैदा किया है, ताकि देवताओं व पितरों को आहुति दी जा सके। मनु ब्राह्मण के सर्वोपरि होने का दूसरा कारण भी बताता है। वह कहता है :

1.98 केवल ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की नित्य देह है, क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए उत्पन्न ब्राह्मण मोक्षलाभ के योग्य होता है।

1.99 उत्पन्न होते ही ब्राह्मण पृथ्वी पर श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि वह धर्म की रक्षा के लिए समर्थ होता है।

मनु इस प्रकार उपसंहार करता है :

1.101 ब्राह्मण अपना ही खाता है अपना ही दान करता है, तथा दूसरे व्यक्ति ब्राह्मण की दया से सबका भोग करते हैं। मनु आगे कहता है :

1.100 विश्व में जो कुछ भी है, वह सब ब्राह्मण का है। अर्थात् ब्राह्मण अच्छे कुल में जन्म लेने के कारण वास्तव में उन सबका अधिकारी होता है। देवत्व से पूर्ण होने के कारण ब्राह्मण कानून और राजा के ऊपर होता है।

मनु आदेश देते हैं :

7.37 राजा प्रातःकाल उठकर ऋग्यजुसाम के ज्ञाता और विद्वान ब्राह्मणों की सेवा करें और उनके कहने के अनुसार कार्य करें।

11.35 शास्त्रोक्त कर्मों को करने वाला, पुत्र शिष्यादि का शासन करने वाला प्रायश्चित विधि आदि को कहने वाला ब्राह्मण सबका मित्र रूप है, अतएव उससे अशुभ वचन तथा रूखी बातें नहीं कहनी चाहिएं।

10.3 जाति की विशिष्टता से, उत्पति स्थान की श्रेष्ठता से, अध्ययन, अध्यापन एवं व्याख्यान आदि के द्वारा नियम के धारण करने और यज्ञोपवीत संस्कार आदि की श्रेष्ठता से सब वर्णों में ब्राह्मण ही वर्णों का स्वामी है।

ब्राह्मण या हिंदू समाज-व्यवस्था के महामानव को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। प्रथमतः उसे फांसी नहीं दी जा सकती, भले ही उसने हत्या की हो।[1]

---

1. यह निरापदता 1837 तक ब्रिटिश सरकार द्वारा जारी रखी गई। 1837 में दंड कानून में संशोधन किया गया जिसमें पहली बार यह व्यवस्था की गई कि किसी हत्या के मामले में ब्राह्मण को दोषी पाए जाने पर उसे मृत्यु दंड फांसी दी जा सकती है। यह निरापदता भारतीय राज्यों में अब भी विद्यमान है। त्रावनकोर को दीवान जो ब्राह्मण है, उसने इस विशेषाधिकार को बनाए रखने के कारण जनता की आलोचना से बचने के लिए चतुर तरीका अपनाया। उसने ब्राह्मण को फांसी देने के बजाए मृत्यु दंड की सजा का प्रावधान को ही समाप्त कर दिया।

मनु कहता है :

8.379 पुरोहित वर्ग के व्याभिचारी को प्राण-दंड देने के बजाय उसका अपकीर्ति कर मुंडन करा देना चाहिए तथा इसी अपराध के लिए अन्य वर्गो को मृत्यु-दंड तक दिया जाए।

8.380 राजा समस्त पाप करने वाले ब्राह्मण का वध कभी न करे, किंतु संपूर्ण धन के साथ अक्षत उसको राज्य से निर्वासित कर दे।

11.127 बिना द्वेष-भाव के यदि ब्राह्मण किसी सदाचारी क्षत्रिय की हत्या कर देता है, तो उसे उसके सभी धार्मिक संस्कारों को रोकने के बाद पुरोहित को एक बैल और एक हजार गाय देनी चाहिए।

11.128 अर्थात् संयमी और जटाधारी होकर ग्राम से अधिक दूर पेड़ के नीचे निवास करता हुआ तीन वर्ष तक ब्रह्मा की हत्या के प्रायश्चित को करे।

11.129 सदाचारी वैश्य का बिना कारण वध करने वाला ब्राह्मण इसी प्रायश्चित को एक साल तक करे अथवा एक बैल के साथ सौ गायों को पुरोहित को दे।

11.130 बिना इरादे के शूद्र का वध करने वाला ब्राह्मण छह मास तक इसी व्रत को करे अथवा एक बैल और दस सफेद गाय पुरोहित को दे।

8.381 ब्राह्मण वध के समान पृथ्वी पर दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है, अतएव राजा मन से भी ब्राह्मण के वध करने का विचार न करे।

8.126 एक ही प्रकार के बार-बार होने वाले अपराधों पर विचार करते हुए और उसका स्थान तथा समय निश्चित करते हुए अपराधी को दंड देने की अथवा सजा भुगतने की पात्रता को देखते हुए राजा को केवल उन लोगों को ही सजा देनी चाहिए जो उसके लिए पात्र हैं।

8.124 ब्रह्मा के पुत्र मन ने तीन कनिष्ठ वर्णो के विषय दंड के दस स्थानों को कहा है और ब्राह्मण को पीड़ारहित अर्थात् बिना किसी प्रकार दंडित किए केवल राज्य से निकाल दिया जाता है।

मनुस्मृति ब्राह्मण को अन्य विशेषाधिकार भी देती है। जहां तक शादी का प्रश्न है, वह अपने ही वर्ग की महिला के साथ शादी करने के अतिरिक्त अपने से भिन्न किसी भी वर्ग की महिला के साथ विवाह संबंध स्थापित कर सकता है[1] लेकिन वह उसके साथ शादी करने या उसके बच्चों को अपना पद या अपनी संपत्ति का कोई अधिकार देने के लिए बाध्य नहीं होगा। उसे अपने साथ ज्यादती करने वाले को दंड

देने का अधिकार होगा और दंडित व्यक्ति न्यायालय की शरण नहीं ले सकेगा।[2] यदि उसके धार्मिक कर्तव्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक हुआ तो वह किसी सामान्य जन (जैसे शूद्र) की संपत्ति पर अधिकार जमा सकता है और उसके लिए न तो वह उसे क्षतिपूर्ति करेगा और न ही उससे पीड़ित न्यायालय की शरण ले सकेगा।[3] यदि वह छिपे हुए खजाने को ढूंढ लेता है तो वह उसे पूरा ही अपने अधिकार में ले लेगा[4] और राजा को उसका सामान्य हिस्सा भी नहीं देगा, क्योंकि वह सबका मालिक है तथा दूसरे के द्वारा खोजे जाने पर वह उसका आधा भाग ले लेगा। वह किसी असाध्य रोग से मृत्यु को प्राप्त हुए राजा द्वारा वैधानिक जुर्माने से एकत्रित की गई संपूर्ण राशि का हकदार है। वह कराधान से परे है वह राजा को इस बात के लिए बाध्य कर सकता है कि वह उसे रोजाना भोजन उपलब्ध कराए और राजा यह देखे कि वह भूखा न मरे। उसकी संपत्ति राज्याधिकार में लिए जाने वाले कानून से मुक्त है।

हिंदू समाज-व्यवस्था का महामानव संकट के दौर में व्यवसाय के मामले में किसी भी नियम में आबद्ध नहीं है, मनु कहता है :

> 10.81 ब्राह्मण यदि अपने कर्म से जीवन-निर्वाह नहीं कर सके, तो क्षत्रिय का कर्म करता हुआ जीवन-निर्वाह करे, क्योंकि क्षत्रिय कर्म उसका समीपवर्ती है।
>
> 10.82 दोनों (ब्राह्मण कर्म तथा क्षत्रिय कर्म) से जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता हुआ ब्राह्मण किस प्रकार रहे? ऐसा संदेह उपस्थित हो जाए तो वैश्य के कर्म, खेती, गो-पालन और व्यापार से जीविका करे।
>
> 10.83 वैश्यावृत्ति से जीविका करता हुआ भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हिंसा प्रधान पराधीन कृषि कर्म प्रत्यनपूर्वक छोड़ दे।
>
> 10.84 कुछ लोक कृषि को उत्तम कर्म मानते हैं किन्तु वह जीविका सज्जनों से निंदित है, क्योंकि लोहे के मुख वाला काष्ठ अर्थात् हल भूमि तथा भूमि में स्थित जीवों को मार डालता है।

---

1. *मनुस्मृति 3.12.13* यह विशेषाधिकार भारत में न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त है।
2. *मनुस्मृति 11.31* यह विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया गया है।
3. *मनुस्मृति 11.32* यह विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया गया है।
4. *मनुस्मृति 11.37* यह विशेषाधिकार अब नहीं है।
5. *मनुस्मृति 8.38.*
6. *मनुस्मृति 9.323.*
7. *मनुस्मृति 7.133.*
8. *मनुस्मृति 7.134.*
9. *मनुस्मृति 9.189*

10.85 जीविका के अभाव से धर्म की निष्ठा को छोड़ते हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को कुछ त्याज्य वस्तुओं को छोड़कर वैश्यों द्वारा बेची जाने वाली धनवर्द्धक शेष वस्तुओं को बेचना चाहिए।

10.102 आपत्ति में पड़ा हुआ ब्राह्मण सबसे दान ग्रहण करे, क्योंकि आपत्ति में पड़ा हुआ पवित्र दूषित होता है, यह शास्त्र संगत नहीं होता है।

10.103 निंदितों को अध्यापन कराने से, यज्ञ कराने से और उनका दिया हुआ दान लेने से ब्राह्मणों को दोष नहीं होता, क्योंकि वे अग्नि तथा पानी के समान पवित्र है।

महामानव के विशेषाधिकारों के बावजूद उनकी सामान्यजन के प्रति कोई जिम्मेदारी नहीं है। वास्तव में महामानव की सामान्यजन के प्रति कोई जवाबदेही नहीं।

वह सामान्य जन के उत्थान के लिए दान करने हेतु बाध्य नहीं है। दूसरी ओर दान स्वीकार करना महामानव का एकाधिकार है। किसी और व्यक्ति द्वारा दान लिया जाना पाप है। सामान्य जन (शूद्र) जो महामानव की सेवा के लिए ही पैदा होता है, सेवक के प्रति उसमें सद्भाव होना आवश्यक नहीं। वह उसे अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े तथा अच्छा निवास-स्थान देने के लिए बाध्य नहीं है, इस संबंध में मनु द्वारा निर्धारित उसके कर्तव्य निम्नांकित है :

10.124 शूद्र की क्षमता, उसका कार्य तथा उसके परिवार में उस पर निर्भर लोगों की संख्या को ध्यान में रखते हुए वे लोग उसे अपनी पारिवारिक संपत्ति से उचित वेतन दें।

10.125 शूद्र को जूठा भोजन, पुराने वस्त्र, अन्न का पुआल तथा पुराने बर्तन आदि देने चाहिए।

सामान्य जन की उन्नति महामानव की श्रेष्ठता के विरुद्ध है। महामानव को प्रसन्न, संतुष्ट तथा सुरक्षित व निर्भय रखने की दृष्टि से हिंदू समाज-व्यवस्था व्यक्ति को निरंतर पतन की स्थिति में रखने के लिए विशेष ध्यान देती है।

मनु इस बात पर जोर देता है कि शूद्र को सेवा के सिवाय और कुछ नहीं करना चाहिए:

10.122 यह ब्राह्मण की सेवा करे।

10.122 ब्राह्मण की सेवा द्वारा जीवन-निर्वाह नहीं होने से जीविका को चाहने वाला शूद्र क्षत्रिय अथवा धनिक वैश्य की सेवा करता हुआ जीवन-निर्वाह करे।

1.91 ब्रह्मा ने शूद्र के लिए जो एक सबसे प्रमुख कार्य सौंपा है, वह है बिना किसी उपेक्षा भाव के उक्त तीनों वर्णों की सेवा करना।

10.129 शूद्र धन संचय करने की स्थिति में हो, फिर भी ऐसा न करे क्योंकि जो शूद्र धन संचय करता है, वह ब्राह्मण को देख पहुंचाता है।

सामान्य जन को विद्यार्जन की अनुमति नहीं है इस संबंध में मनु के निम्नांकित निर्देश हैं :

1.88 वेदों का अध्ययन करने तथा वेदों की शिक्षा देने का कार्य सृष्टिा ने ब्राह्मणों को सौंपा है।

1.89 क्षत्रियों को उसने (सृष्टा) ने आदेश दिया है कि वे वेदों का अध्ययन करें।

2.116 जो गुरू की आज्ञा के बिना ही वेदों का ज्ञान ग्रहण करता है वह ब्रह्म की चोरी करने का दोषी होकर नकरगामी होता है।

4.99 द्विज शूद्र की उपस्थिति में वेद का अध्ययन न करे।

9.18 स्त्रियों का वेदों के श्लोकों से कोई सरोकार नहीं है।

11.198 यदि किसी द्विज ने (अनुचित रूप से) वेदों का रहस्योद्घाटन किया है (अर्थात् शूद्रों तथा स्त्रियों को) तो वह (पाप करता है) एक वर्ष जौ का आहार करके अपने पाप का प्रायश्चित करता है।

इन उदाहरणों में तीन विशेष प्रस्ताव दिए गए है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी वेदाध्ययन कर सकते हैं। इनमें से भी केवल ब्राह्मण को ही वेदों के अध्यापन अधिकार है लेकिन शूद्र को तो न केवल वेदों का अध्ययन करने की मनाही हे वरन् उसे तो उन्हें किसी के द्वारा पढ़े जाने पर सुनने की भी अनुमति नहीं दी गई।

मनु के उत्तराधिकारियों ने शूद्र द्वारा वेदाध्ययन करने के लिए उसे कठोर दंड वाले अपराध की श्रेणी में रखा। उदाहरण के लिए ऋषि गौतम कहता है :

3.4 यदि शूद्र इरादतन याद करने के उद्देश्य से वेद सुनता है तो उसके कानों में पिछला हुआ लाख और जस्ता भर देना चाहिए, यदि वह वेद का उच्चारण करता है तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए और यदि वह वेद पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तो उसके शरीर के टुकड़े कर देना चाहिएं।

कात्यायन के भी यही विचार हैं:

सामान्य जन (शूद्र) को दीक्षा-संस्कार की भी अनुमति नहीं है दूसरे जन्म में ही व्यक्ति विशेष का नैतिक तथा भौतिक उन्नयन संभव हो पाता है। सामान्य जन को तो गरिमापूर्ण नाम रखने का भी अधिकार नहीं है।

मनु के अनुसार :

2.30 पिता को बच्चे के जन्म के बाद दसवें अथवा बारहवें दिन, अथवा शुभ ग्रह के अवसर पर अथवा शुभ मुहुर्त पर अथवा शुभ तिथि पर नामध्येय (बच्चे का नामकरण संस्कार) करना चाहिए।

1.31 ब्राह्मण के नाम का पहला भाग शुभ सूचक होना चाहिए, क्षत्रिय के नाम का शक्ति के साथ संबंध हो और वैश्य का संपत्ति के साथ, परंतु शूद्र के नाम का पहला भाग कोई ऐसा हो जो घृणा व्यक्त करे।

2.32 ब्राह्मण के नाम का दूसरा भाग ऐसा शब्द हो जो प्रसन्नता व्यक्त करे, क्षत्रिय का नाम रक्षा व्यक्त करे, वैश्य का समृद्धि और शूद्र का सेवा व्यक्त करे।

महामानव शूद्र के श्रेष्ठ नाम को सहन नहीं कर सकेगा। वह वास्तविकता तथा नाम दोनों दृष्टियों से निंदनीय होगा।

हिंदू का जीवन आश्रमों में बंटा हुआ है। प्रथम आश्रम को ब्रह्मचार्य कहते है, जो विद्यार्थी काल होता है। दूसरे को गृहस्थाश्रम कहा जाता है, जिसे वैवाहिक अवस्था कहते हैं। तीसरे को वानप्रस्थ कहते हैं जो संसारिक जीवन से अनाशक्ति काल माना जाता है। चौथे काल को संन्यास कहा जाता है जो सांसरिक झंझटों से परी तरह मुक्त होने की अवस्था और लौकिक मृत्यु के बराबर होती है, सामान्य व्यक्ति को संन्यासी बनने का अधिकार नहीं है। समझना कठिन है कि ऐसा क्यों हैं? प्रत्यक्षत: महामानव के लाभार्थ यह रचना रची गई। शूद्र संन्यासी बनने के बाद महामानव की सेवा करना बंद कर देगा। शूद्र संन्यासी बनकर ईश्वर या ब्रह्मा के समीप पहुंच जाएगा जो कि महामानव के विशेषाधिकारों का अतिक्रमण होगा।

मनुस्मृति से लिए गए उद्धरण यह सिद्ध करते हैं कि हिंदू समाज–व्यवस्था स्पष्ट तौर पर महामानव के हितों को ध्यान में रखकर निर्धारित की गई है, इसमें हर चीज महामानव के लिए बनाई गई है। महामानव ब्राह्मण है और सामान्य जन शूद्र। महामानव को अधिकार प्राप्त है, पर उसके कर्तव्य कुछ नहीं हैं। हर चीज महामानव की इच्छा पर निर्भर है। हर चीज उसी के हितों को ध्यान में रखकर निर्धारित की जानी होगी। इस विशेषता का विपरीत पक्ष आम आदमी का पतन है। महामानव की तुलना में सामान्य जन को स्वतंत्रता, संपत्ति या प्रसन्नता की आशा का कोई अधिकार नहीं है उसे महामानव के जीवन–निर्वाह तथा मान मर्यादा के लिए हर चीज का परित्याग करने को तैयार रहना चाहिए। हिंदू समाज–व्यवस्था के अनुसार ऐसा परित्याग सामान्य जन को स्वेच्छा से करना चाहिए। वास्तव में यह इस बात को मस्तिष्क में बैठा देती है कि आम आदमी को अपना सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य समझकर महामानव के हित में परित्याग करने के लिए सदैव तैयार करना चाहिए।

क्या इसमें कोई संदेह के कि जरथूस्त मनु के लिए नया नाम है और दस स्पेक जरथूस्त *मनुस्मृति* का नया संस्करण है?

यदि मनु तथा नीत्शे के बीच कोई अंतर है तो वह इस बात में निहित है कि तीत्शे मानव का नया वर्ग सृजित करने में वास्तविक अभिरुचि रखता था, जो मानव

जाति की तुलना में महामानव की जाति हो। दूसरी ओर मनु की अभिरुचि उस वर्ग के विशेषाधिकार को बनाए रखने में थी जो वर्ग महामानव होने के अपने दावे को पुष्ट करने के लिए ही आया था। नीत्शे का महामानव अपनी योग्यता के कारण महामानव था। नीत्शे निष्पक्ष दार्शनिक था। दूसरी ओर मनु एक कर्मचारी था जिसे ऐसे दर्शन की स्थापना के लिए रखा गया था जो ऐसे वर्ग के हितों का पोषण करे जिस समूह में वह पैदा हुआ था और जिसका महामानव होने का हक उसके गुणहीन होने के बावजूद भी न छीना जाए। मनु की निम्नांकित उक्ति की तुलना करें।[1] :

> 10.81 यदि कोई ब्राह्मण अपने कर्तव्यों के निर्वहन से निर्वाह करने में असमर्थ है तो क्षत्रिय का कर्म करते हुए जीवन निर्वाह करे क्योंकि वह उससे अगले वर्ण का है।
>
> 10.82 दोनों (ब्राह्मण कर्म तथा क्षत्रिय कर्म) से जीवन निर्वाह नहीं कर सकता हुआ ब्राह्मण किस प्रकार रहे? ऐसा संदेह उपस्थित हो जाए, तो वैश्य के कर्म, खेती, गोपालन और व्यापार से जीविका करे।
>
> 9.317 ब्राह्मण चाहे मूर्ख हो या बुद्धिमान, वह महान पूज्य व्यक्ति होता है, ठीक वैसे ही जैसे अग्नि, चाहे वह शास्त्र विधि से स्थापित है अथवा सामान्य अग्नि है, पूज्य होती है।
>
> 9.319 इस प्रकार ब्राह्मण सभी प्रकार के कोई (तुच्छ) कार्य भी करे, उन्हें हर हालत में सम्मान दिया जाना चाहिए, क्योंकि वह उत्तम देवता है।

नीत्शे द्वारा *मनुस्मृति* की प्रशंसा ठीक नहीं है, क्योंकि जब वह कहता है कि उनकी योजनानुसार कुलीन वर्ग, दार्शनिक तथा योद्धा जनता–जनार्दन की रक्षा करते हैं तथा मार्गदर्शन प्रदान करते हैं तो उसने इसे ठीक नहीं पढ़ा या वह गलतबयानी कर रहा है। *मनुस्मृति* के अनुसार महामानव का सामान्य जन पर आधिपत्य होता है, पर उसका सामान्य जन के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होता।

नीत्शे के महामानव के दर्शन की तुलना में मनु के महामानव का पतित दर्शन कहीं अधिक घृणित और कुत्सित है ऐसी है उसकी समाज–व्यवस्था, जिसे हिंदू अमूल्य मानते हैं, और जिस पर श्री गांधी को गर्व है तथा जिसे वह हिंदुओं की ओर से विश्व को उपहार–स्वरूप देना चाहते हैं।

हिंदू समाज–व्यवस्था की दूसरी विशिष्टता उसके संरक्षण की तरकीब से संबंधित है। इसके दो रूप हैं।

---

1. ब्राह्मण का सही विवरण सर्वोत्तम महामानव होाग, क्योंकि उससे नीचे सामान्य जन से ऊपर क्षत्रिय तथा वैश्य होते हैं, न कि महामानव, अतः नाम–परिवर्तन करना आवश्यक नहीं होगा।

पहली तरकीब तो यह है कि समाज-व्यवस्था को बनाए रखने की जिम्मेदारी राजा की है। मनु का इस संबंध में स्पष्ट मत है :

> 8.410 राजा प्रत्येक वैश्व को व्यापार अथवा पैसा उधार देने की अथवा खेती करने की अथवा पशु-पालन की और शूद्र व्यक्ति को द्विज की सेवा करने की आज्ञा दे।
>
> 8.418 पूर्ण रूप से जाग्रत तथा सचेत होकर राजा आदेश दे कि वैश्यों तथा शूद्र अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें, क्योंकि जब ये लोग अपने कर्तव्यों का पालन करना छोड़ देते हैं, तब सारा संसार भ्रम में पड़ जाता है।

मनु इस संबंध में राजा के मात्र कर्तव्य निरूपण तक ही सीमित नहीं रहता। वह यह सुनिश्चित करना चाहता है कि स्थापित व्यवस्था को राजा हर समय सुरक्षित बनाए रखने के अपने कर्तव्य का निर्वहन करे। अत: आगे मनु दो उपबंधों की व्यवस्था कर देता है, पहला उपबंध तो यह है कि राजा द्वारा स्थापित व्यवस्था को बनाए रखने में विफल रहने पर इसे अपराध माना जाए जिसके लिए राजा पर अभियोग चलाया जाए तथा सामान्य घोर अपराधी की तरह उसे दंड दिया जाए। मनुस्मृति से लिए गए निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट है :

> 8.335 यदि पिता, शिक्षक, मित्र, माता, पत्नी, पुत्र, घरेलू पुरोहित अपने-अपने कर्तव्य का दृढ़ता व सच्चाई के साथ निष्पादित नहीं करते हैं तो इनमें से किसी को भी राजा द्वारा बिना दंड के नहीं छोड़ा जाना चाहिए।
>
> 8.336 जिस अपराध में साधारण व्यक्ति एक पण से दंडनीय है, उसी अपराध से लिए राजा सहस्र पण से दंडनीय है, ऐसा शास्त्र का निर्णय है। उसे यह दंड-राशि पुरोहित को या नदी को भेंट करनी चाहिए।

स्थापित व्यवस्था के प्रति लापरवाह या उसका विरोध करने वाले राजा के लिए मनु द्वारा किया गया दूसरा प्रावधान यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य राजा के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह कर सकते हैं।

> 8.348 यदि किसी द्विजातियों के कर्तव्य को बलपूर्वक बाधित किया जाता है या उन पर विपत्ति आती है या उनके दुर्दिन आते हैं तो वे शस्त्र उठा सकते हैं।

स्वाभाविक है, क्योंकि ऊपर वाले ये तीन उच्च वर्णों ही है; जिन्हें इस पद्धति को बनाए रखने में लाभ है। लेमिन मान लिया जाए? इस संदर्भ में मनु ब्राह्मणों को यह अधिकार देता है कि वे सभी को, विशेषकर क्षत्रियों को दंड दें।

> 11.31 नियमों को अच्छी तरह जानने वाले ब्राह्मण को किसी दुखदायी आघात की स्थिति में राजा से शिकायत करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह अपनी शक्ति द्वारा ही उस व्यक्ति को दंड दे सकता है, जो उसे आघात पहुंचाता है।

> 11.32 उसकी निजी शक्ति जो केवल उसी पर निर्भर करती है, राजकीय शक्ति से प्रबल होती है जो कि दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर हैं। अत: ब्राह्मण अपनी शक्ति के द्वारा ही अपने शत्रुओं का दमन कर सकता है।
>
> 11.33 ब्राह्मण अपने वेद के आंगिरस श्रुति को बिना विचारे ही प्रयोग कर सकता है क्योंकि ब्राह्मण का वचन ही शास्त्र है, अतएव उससे ब्राह्मण शत्रुनाश करें।
>
> 9.320 यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण के विरुद्ध सभी अवसरों पर हिंसक ढंग से शस्त्र उठाता है, तो उसे स्वयं वह ब्राह्मण ही दंड देगा, क्योंकि क्षत्रिय मूल रूप से ब्राह्मण से ही पैदा हुआ है।

जब तक ब्राह्मण हथियार का सहारा नहीं लेते, तब तक क्षत्रियों को कैसे दंडित कर सकते हैं? मनु जानता है और इसलिए वह ब्राह्मण को स्वयं हथियार उठाने के लिए अनुमति देता है, ताकि क्षत्रियों को दंडित किया जा सके।

> 12.100 सेना पर नियंत्रण, राजकीय प्राधिकर, दंड देने की शक्ति तथा सभी राष्ट्रों के ऊपर प्रभुसत्ता-राज्य का केवल वही अधिकारी है जो वेद-शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता है, अर्थात् वह ब्राह्मण है।

स्थापित व्यवस्था के अनुरक्षण तथा परिरक्षण का दूसरा तरीका पहली तरकीब से बिल्कुल भिन्न है । वास्तव में यही वह तकनीक है, जो हिंदू समाज-व्यवस्था की अलग विशेषता है।

हिंसक आक्रमण से समाज-व्यवस्था के परिरक्षण के दृष्टिकोण से तीन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है क्रांति के लिए तीन कारक उत्तरदायी होते हैं : (1) न्यायविरुद्ध एहसास की उपस्थिति, (2) यह जानने की क्षमता कि व्यक्ति विशेष के साथ अनुचित व्यवहार किया जा रहा है, तथा (3) हथियारों की उपलब्धता। दूसरी बात यह कि विद्रोह को भड़कने ही न दिया जाए और यह कि विद्रोह के भड़कने के बाद उसे दबाया जाए। तीसरी बात यह कि क्या विद्राह को रोका जाना संभव है या विद्रोह को दबाने का तरीका ही शेष है; यह उन नियमों पर निर्भर करता है, जो विद्रोह की आशंकाओं का संकेत करते हैं।

जब सामाजिक प्रणाली उन्नति के अवसर को रोकती है, शिक्षा तथा हथियार उठाने के अधिकार से वंचित करती है, जो इसका मतलब है कि यह समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह को दबाने की स्थिति में हैं जबकि दूसरी ओर समाज-व्यवस्था शिक्षा के अधिकार को अनुमति देती है और हथियारों के उपयोग को मान्यता देती है, यह उनके द्वारा विद्रोह को नहीं दबा सकती जो अनिष्ट के शिकार होते हैं। समाज-व्यवस्था को संरक्षित रखने में पहली विधि को अपनाया गया है। इसने भावी पीढ़ियों के लिए निम्न वर्गों की सामाजिक स्थिति निर्धारित कर दी है इनके आर्थिक स्तर को भी

निर्धारित कर दिया गया है इन दोनों के बीच कोई असमानता नहीं है, अतः शिकायत पैदा होने की कोई संभावना नहीं है। इसमें निम्न वर्गों के लिए शिक्षा की मनाही है। परिणाम यह है कि कोई भी अपनी निम्नता के प्रति सजग नहीं है। वे तो बस इतना जानते हैं कि निम्नावस्था के लिए कोई जिम्मेदार नहीं हैं यह तो भाग्य में ही लिखा है। यह भी मान लिया जाए कि शिकायत है, शिकायत के प्रति जागरूकता भी है, तब भी निम्न वर्ग हिंदू समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकते, क्योंकि हिंदू समाज-व्यवस्था सामान्य जन को हथियारों के उपयोग का अधिकार नहीं देती। मुसलमान या नाजियों जैसी समाज व्यवस्थाएं इसके बिल्कुल विपरीत हैं। वे सभी को समान अवसर प्रदान करती है। इनमें ज्ञानार्जन की स्वतंत्रता है। उनमें उन्हें हथियारों के उपयोग करने की स्वतंत्रता है और वे बल तथा हिंसा का सहारा लेकर विद्रोह को दबाने का कार्य स्वयं कर सकते हैं। अवसर की स्वतंत्रता न देना, ज्ञानार्जन की स्वतंत्रता न देना, हथियारों के उपयोग का अधिकार न देना सबसे बड़ी निर्दयता है। इसका परिणाम यह है कि मनु मानव के हाथ-पांव काट लेता है और उसे नपुंसक बना देता है हिंदू समाज-व्यवस्था को ऐसा करने पर कोई शर्म नहीं है। तथापि, इसने दो उपलब्धियां हासिल की हैं। यह सर्वाधिक प्रभावी सिद्ध हुई हैं, हालांकि स्थापित व्यवस्था को परिरक्षित करने की यह सबसे शर्मनाक विधि है दूसरे, मानवता का गला दबाने के सर्वाधिक अमानवीय तरीकों व साधनों का उपयोग करने के बावजूद यह हिंदुओं को बहुत ही मानवीय लोक होने की प्रतिष्ठा प्रदान करती है। वास्तव में नाजियों को हिंदुओं से बहुत कुछ सीखना था। यदि उन्होंने जनता को दबाने की हिंदूवादी तकनीक अपनाई होती, जो वे बिना किसी खुली बर्बरता के यहूदियों को कुचलने में सफल हो गए होते तथा स्वयं को मानवता का अवतार भी सिद्ध कर सकते थे।

हिंदू समाज-व्यवस्था की तीसरी निराली विशेषता यह है कि यह स्वयं ईश्वर द्वारा बनाई गई दैवीय व्यवस्था है। चूंकि यह पवित्र व्यवस्था है, अतः इसका निराकरण, संशोधन, यहां तक की इसकी समीक्षा भी नहीं की जा सकती। हिंदू समाज-व्यवस्था के दैवी चरित्र के बारे में किसी भी संदेह में निवारण के लिए भगवत्‌गीता तथा मनुस्मृति के निम्नांकित श्लोकों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। हिंदुओं के ईश्वरों में से एक ईश्वर श्रीकृष्ण जिसका शब्द की भगवत्‌गीता है, कहता है :

> 4.13 गुण और कर्मों के विभाग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गए हैं और इनकी रचना मेरे द्वारा ही की गई है।
>
> 18.41-44 हे परंतप! ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म-स्वभाव से उत्पन्न हुए गुण विभक्त किए गए हैं। अंतःकरण का निग्रह, इंद्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, क्षमा-भाव, मन, इंद्रियों और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि-शास्त्र विषयक ज्ञान

> और परमात्व तत्व का अनुभव ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुराई और युद्ध में भी न भागने का स्वभाव, दान और स्वामी भव क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। खेती, गौ-पालन और क्रय-विक्रय रूप, सद्व्यवहार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं और इसी प्रकार सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

कृष्ण हिंदू समाज-व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करने को निषिद्ध मानते हैं। वे कहते है:

> 3.26 कार्य में संलग्न अनजान लोगों द्वारा कार्य करते रहने की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान व्यक्ति को लोगों को उनके काम में ही लगाए रखना चाहिए, और कार्य में रत अनजात (मूर्ख) लोगों के विश्वास को नहीं तोड़ना चाहिए, वरन्, स्वयं निष्ठापूर्वक कार्य करते हुए उन्हें स्वयं सभी प्रकार के कार्यों में लगाए रखना चाहिए।..... पूर्ण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति इन अपूर्ण ज्ञान रखने वाले लोगों का विश्वास नहीं तोड़े।

हिन्दू समाज-व्यवस्था के विफल हो जाने पर भी कृष्ण नहीं चाहते कि लोग उससे सुधार लाने का कार्य करें। वे कहते हैं कि वे यह कार्य उन पर छोड़ दें। भगवत्गीता की निम्नांकित भर्त्सना से बात यह बिल्कुल स्पष्ट है :

कृष्ण के अनुसार :

> 4.7-8 *हे! भारत, जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है, तब-तब मैं स्वयं प्रकट होता हूं। मैं साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का नाश करने और धर्म की स्थापना के लिए अलग-अलग युगों में जन्म लेता हूं।*

हिंदू समाज-व्यवस्था की यह एकमात्र विशेषता नहीं है यह तो एक असाधारण विशेषता है प्राण-प्रतिष्ठा की समीक्षा से पता चलेगा कि ऐसे उदाहरण हैं कि समाज ने निर्जीव वस्तुओं की प्राण-प्रतिष्ठा की है और इसके अनुयायियों के दिमाग में यह धार्मिक विश्वास बिठाया है कि वे पवित्र हैं। ऐसे उदाहरण हैं जहां पत्थरों, नदियों, पेड़ों को देवी-देवता बना दिया गया है। ऐसे उदाहरण हैं, जहां समाज ने सजीव वस्तुओं की प्राण-प्रतिष्ठा की और समाज के लोगों के दिमाग में यह धार्मिक विश्वास बिठाया है कि वे पवित्र हैं। लेकिन ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि किसी विशिष्ट समाज-व्यवस्था की प्राण-प्रतिष्ठा की गई हो और उसे पवित्र बनाया गया हो। प्रारंभिक समाज की अपनी कुल देव-व्यवस्था थी। लेकिन कुल या जनजातीय व्यवस्था केवल समाज-व्यवस्था थी, धर्म द्वारा उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कभी नहीं की गई थी और न ही उसे कभी पवित्र तथा संशय रहित बनाया गया था। मिस्र, फारस, रोम, यूनान जैसे संसार के पुराने देशों में से हरेक की अपनी समाज-व्यवस्था थी जिसमें कुछ लोग स्वतंत्र होते थे तथा कुछ दास होते थे, कुछ नागरिक होते थे, कुछ संबद्ध होते

थे, कुछ एक प्रजाति के ही थे, तथा कुछ दूसरी के। पुनः यह वर्ग-व्यवस्था मात्र समाज-व्यवस्था होती थी और उसकी धर्म द्वारा कभी भी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की गई और न ही कभी उसे पवित्र और सनातन बनाया गया। आधुनिक युग में उसकी अपनी व्यवस्था है कुछ में प्रजातंत्र है, कुछ में फासिस्ट है, कुछ नाजीवाद के हामी हैं तो कुछ में साम्यवाद है लेकिन यह व्यवस्था मात्र समाज-व्यवस्था है इसकी धर्म द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की गई और न ही इसे पवित्र और संशय रहित बनाया गया।

समाज ने अपने व्यवसायों (जीविकोपार्जन के उपायों) की कहीं भी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की है। आर्थिक क्रियाकलाप हमेशा ही धार्मिक पवित्रता की परिधि से बाहर रहे हैं। शिकारी समाज बिना किसी धर्म के नहीं रहा लेकिन शिकार करने को एक व्यवसाय के रूप में कभी प्रतिष्ठा नहीं दी, और न ही पवित्र बनाया गया। कृषि को भी व्यवसाय के रूप में धर्म द्वारा प्रतिष्ठित नहीं किया गया, और न ही पवित्रता का जाम पहनाया गया। चरवाहा समाज कभी भी बिना धर्म के नहीं रहा। किन्तु चरागाह कभी भी प्राण-प्रतिष्ठत नहीं किया गया और पवित्र नहीं बनाया गया। कुलीन और सामंत वर्ग तथा दास समाज में थे, किन्तु यह मात्र सामाजिक व्यवस्था थी। यह धर्म बंधनों से भिन्न थी।

हिंदू समाज में ही मानवीय संबंधों को धर्म का आवरण ओढ़ाकर अनुबंधनीय बना दिया गया है। हिंदूओं में कामगारों के परस्परिक संबंधों की भी सीमाएं बांध दी गई हैं। उन्हें कड़ियों और सनातन संशयहीनता के शिकंजे में कस दिया गया है।

अतः क्या यह कहना पर्याप्त नहीं है कि हिंदू ऐसे लोग हैं, जिनके धर्म की पवित्र संहिता है। ठीक ऐसे ही जरथूस्त, इजराइली, ईसाई तथा मुसलमान हैं। इन सबकी पवित्र संहिताएं हैं, से विश्वासों तथा संस्कारों को प्राण प्रतिष्ठित करते हैं तथा उन्हें पवित्र बनाते हैं लेकिन वे निर्धारित नहीं करते, न ही वे इंसान-इंसान के बीच के संबंध को मूर्त रूप में प्राण प्रतिष्ठित करते हैं और उसे पवित्र तथा अखंड बनाते हैं। इस मामले में हिंदू अनोखे हैं। यही बात है जिसने हिंदू समाज-व्यवस्था को समय के विप्लव और आक्रमण का सामना करने की दृढ़ शक्ति प्रदान की है।

कट्टर हिंदू यह स्वीकार करेगा कि हिंदू समाज-व्यवस्था का यह विशुद्ध विवरण है। केवल सुधारक ही तर्क-वितर्क कर सकता है। वह कहेगा कि अंग्रेजों के आने के बाद यह तो इतिहास की बात बन चुकी है। किसी को इस विचार से विचलित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसा कहना प्रपंच है यह इस तथ्य को भूल जाते हैं कि जो संस्था संप्रदायों के रूप में लुप्त हो जाती है, यह आदतों के रूप में तो जीवित रहती ही है। कोई भी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि हिंदू समाज-व्यवस्था हिंदुओं की आदत बन गई है और यह पूरी तरह सजग है ऐसा होने के कारण यह जोरों पर है।

भाग III

हिंदुत्व के प्रतीक

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने 'कैन आई बी ए हिंदू' शीर्षक के अंतर्गत एक वृहद् पुस्तक लिखने की योजना बनाई थी और यह अपूर्ण अध्याय 'सिमबल्स ऑफ हिंदुइज्म' उक्त विशाल योजना का एक अध्याय प्रतीत होता है।

अध्याय 4

हिंदुत्व के प्रतीक

क्या हिंदुओं के सामाजिक संगठनों में कोई विलक्षण चीज है? विद्वानों द्वारा किए गए अन्वेषणों से अनभिज्ञ एक सीधा-सादा हिंदू तो यही कहेगा कि इसमें (हिंदू सामाजिक संगठन) कुछ भी आश्चर्यजनक, असामान्य या अप्राकृतिक नहीं है यह बिल्कुल स्वाभाविक है जो लोग अपने जीवन को अलग-थलग रह कर जीते हैं। वे कभी भी अपने तौर-तरीकों की विशिष्टताओं के प्रति सजग नहीं होते। लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अबाध गति से स्वयं को नाम देते चले आ रहे हैं। लेकिन बाह्य व्यक्तियों, गैर-हिंदुओं को हिंदुओं का सामाजिक संगठन क्या खटकता है? क्या यह उन्हें वैसा ही सामान्य तथा स्वाभाविक दिखाई देता है, जैसा कि हिदुंओं को लगता है?

ईसा से लगभग 305 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजा सिल्यूक्स निकेतार के राजदूत के रूप में भारत में आए मैगस्थनीज ने यह अनुभव किया कि हिंदुओं का सामाजिक संगठन बहुत ही विचित्र किस्म का है अन्यथा, उसने हिंदू समाज-संगठन की अजीब विशेषताओं का वण्रन करने में ऐसी गहन रुचि नहीं ली होती। उसने लिखा है:

> ''भारत की आबादी सात भागों में बंटी हुई है। दार्शनिक पहली श्रेणी में आते हैं पर संख्या की दृष्टि से उनका वर्ग सबसे छोटा है। बलि चढ़ाने या अन्य पवित्र धार्मिक संस्कार करने के इच्छुक लोगों द्वारा निजी तौर पर तथा राजाओं द्वारा सार्वजनिक रूप से भी महाधर्म परिषद में उनकी सेवाओं का उपयोग किया जाता है, जिसमें नव वर्ष के प्रारंभ में सभी दार्शनिक राजा के द्वार पर एकत्रित हो जाते हैं जहां कोई भी दार्शनिक, जिसने लेखन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण व उपयोगी सुझाव दिए हैं या जिसने फसल तथा पशुओं के उन्नयन के लिए या जनहित को बढ़ावा देने के लिए कोई टिप्पणी की है, वह सार्वजनिक तौर पर इसकी घोषणा कर सकता है यदि यह पता लग जाता है कि किसी ने तीन बार गलत सूचना दी है तो कानूनानुसार उसकी भर्त्सना की जाती है और उसे उसके शेष जीवन के लिए चुप रहने का दंड दिया जाता है। लेकिन यदि कोई उचित सलाह देता है तो उसे कराधान या

अंशदान देने से छूट दे दी जाती है। दूसरी जाति कृषकों की है जो बहुसंख्य है तथा अत्यधिक मृदूल तथा सरल स्वभाव के होते हैं। उन्हें सैन्य सेवा से छूट दी जाती है और वे निर्भय होकर अपनी जमीनों को जोतते हैं। वे कभी भी शहर, कस्बे में उसके उपद्रवों में भाग लेने या किसी अन्य उद्देश्य से नहीं जाते। अतः कई बार ऐसा होता है कि एक ही समय तथा देश के एक ही भाग में कुछ लोग युद्ध में रत दिखाई देते हैं और अपने जीवन को जोखिम में डालकर लड़ते हैं। जबकि दूसरी ओर उनके पास में ही रहने वाले लोग निश्चित होकर हल चला रहे होते हैं तथा निराई-गुड़ाई कर रहे होते हैं, क्योंकि उनकी रक्षा के लिए ये सैनिक वर्ग है ही। समस्त भूमि राजा की संपत्ति होती है तथा कृषक उस पर खेती इस शर्त पर करते हैं कि उनको फसल का एक चौथाई भाग मिलेगा।

तीसरी जाति पशुपालकों तथा शिकारियों की है केवल वे ही शिकार कर सकते हैं, पशु पाल सकते हैं, भारवाही पशुओं को बेच सकते हैं। या उन्हें किराए पर दे सकते हैं। खेत में बोए हुए बीजों को चट कर जाने वाले जंगली जानवरों से भूमि को साफ करने के बदले उन्हें राजा की ओर से भत्ते के रूप में अनाज दिया जाता है। वे घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते हैं तथा डेरों में रहते हैं।

पशुपालकों तथा शिकारियों के बाद चौथा वर्ग वह है, जिसमें व्यापारी शामिल हैं, जो बर्तन बेचते हैं और शारीरिक श्रम करते हैं। इनमें से कुछ कर देते हैं तथा राज्य को कतिपय निर्धारित सेवाएं प्रदान करते हैं। लेकिन हथियार-निर्माता तथा जहाज बनाने वाले राजा से मजदूरी तथा खाद्य सामग्री प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे मात्र उन्हीं के लिए कार्य करते हैं। सेनानायक सैनिकों को हथियारों की आपूर्ति करता है तथा नौसेनानायक यात्रियों तथा वाणिज्यिक वस्तुओं, दोनों के परिवहन के लिए जहाजों को किराए पर देता है।

पांचवा वर्ग सैनिकों का है, जो सक्रिया सेवा में न लगे होने पर अपना समय केवल खाने-पीने में ही व्यतीत करते हैं उन पर राजा की ओर से व्यय किया जाता है, अतः आवश्यकता पड़ने पर वे सदैव लड़ने को तैयार रहते हैं, क्योंकि उनके पास उनके शरीरों के अलावा और कुछ भी नहीं होता।

छठा वर्ग भेदियों का है, जिन्हें यह कार्य सौंपा जाता है कि जो कुछ भी हो रहा है, उस पर निगरानी रखें तथा राजा को गुप्त रूप से सूचित करें। कुछ को शहर में सतर्कता का तो कुछ को सेना के निरीक्षण का कार्य सौंपा जाता है। पहले वाले शहर की वेश्याओं को अपने सहायक के रूप में नौकरी पर रखते हैं तथा दूसरे वाले कैम्प की वेश्याओं को अपने सहायक के रूप में नौकरी पर रखते हैं तथा दूसरे वाले कैम्प की वेश्याओं को अपना सहायक बनाते हैं। इन

> पदों पर योग्यतम तथा सर्वाधिक विश्वासपात्र व्यक्तियों को बिठाया जाता है।
>
> सातवें वर्ग में रात के पार्षद तथा कर-निर्धारक शामिल हैं। इनको उच्चतम सरकारी पद न्यायालय तथा जन-सामान्य के कार्यों का शासन-कार्य सौंपा जाता है।
>
> किसी को भी अपनी जाति से बाहर शादी करने या अपना व्यवसाय या वाणिज्य बदलने या एक से अधिक धंधा करने की अनुमति नहीं होती। केवल दार्शनिक ही इसका अपवाद होता है क्योंकि उनके गुणों के कारण उन्हें यह विशेषाधिकार दिया जाता है।''

लगभग 1030 ईस्वी में भारत की अपनी यात्रा का विवरण देते हुए अलबरूनी को भी हिंदू समाज-संगठन के अजूबों ने आकर्षित किया होगा, क्योंकि उन्होंने भी अपने अनुभवों को दर्ज करते समय इस बात को भी भुलाया। वह लिखता है :

> ''हिंदू अपनी जातियों को वर्ण अर्थात् रंग कहते हैं और जन्म के आधार पर उन्हें जातक अर्थात् जन्म कहते हैं। शुरू से ही ये जातियां केवल चार हैं।
>
> 1. ब्राह्मण सबसे ऊंची जाति के है, जिनके बारे में हिंदुओं की पुस्तकों से पता चलता है कि वे ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे और ब्रह्मा उस शक्ति का दूसरा नाम है जिसे प्रकृति कहते हैं तथा सिर जीवधारी के शरीर का सर्वोत्तम भाग होता है; अतः ब्राह्मण संपूर्ण जाति के श्रेष्ठ अंग हैं। हिंदू उन्हें सर्वोत्तम मानव मानते हैं।
>
> 2. अगली जाति क्षत्रियों की है, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे ब्रह्मा के कंधों तथा हाथों से पैदा हुए थे। उनका पद ब्राह्मण के पद से ज्यादा नीचा नहीं है।
>
> 3. उनके बाद वैश्य है, जो ब्रह्मा की जंघाओं से पैदा हुए।
>
> 4. शूद्र चौथे नम्बर पर आते हैं, जो ब्रह्मा के पैरों से पैदा हुए।
>
> बाद के दोनों वर्गों के बीच ज्यादा अंतर नहीं है तथापि ये वर्ग एक-दूसरे से भिन्न है और वे एक ही कस्बे तथा गांवों में रहते हैं तथा उनके निवास-स्थान एक-दूसरे के घुले-मिले होते हैं।
>
> शूद्र के बाद अन्त्यज आते हैं, जो विभिन्न प्रकार की सेवाएं करते हैं तथा जिन्हें किसी भी जाति में नहीं गिना जाता, बस उन्हें किसी विशेष शिल्प या व्यवसाय का सदस्य ही माना जाता है। धोबी, मोची तथ जुलाहे को छोड़कर उनमें आठ वर्ग ऐसे हैं जो एक-दूसरे के साथ शादी-विवाह कर सकते हैं क्योंकि कोई अन्य उनके संबंध रखने को तैयार नहीं होता। ये आठ वर्ग हैं। - धोबी (रजक), मोची, वाजीगर, टोकरी तथा ढाल बनाने वाला, नाविक (मल्लाह), मछुआरा, जंगली जानवरों तथा चिड़ियों का शिकारी तथा जुलाहा।

इनकी बस्तियां चारों वर्णों के लोगों की बस्तियों के समीप नहीं होती हैं। ये लोग गांवों तथा कस्बों के बाहर बसे होते हैं।

हादी, डोम, चांडाल तथा बधातो नामक लोगों को किसी भी जाति या वर्ग में नहीं गिना जाता। वे गांवों की सफाई तथा अन्य सेवाओं-जैसे गंदे कार्यों में लगे रहते हैं। उन्हें केवल एक अनन्य वर्ग माना जाता है। वास्तव में उन्हें अवैध बच्चों की तरह माना जाता है; क्योंकि सामान्य धारणा यह है कि व्यभिचार से पैदा हुए बच्चों के रूप में उनका पिता शूद्र तथा माता ब्राह्मणी होती है, अतः वे बिरादरी से निकाले गए पतित होते हैं।

हिंदू चारों जातियों के प्रत्येक व्यक्ति को उनके व्यवसाय तथा धंधों के अनुसार विशिष्ट नाम देते हैं, जैसे सामान्य तौर पर ब्राह्मण को जब तक वह घर पर रह कर अपना काम करता है, ब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है। जब वह एक अग्नि की सेवा करता है तो उसे इश्तिन कहते हैं; यदि वह तीन अग्नियों की सेवा करता है तो उसे अग्निहोत्री कहते हैं, यदि वह इनके अतिरिक्त अग्नि को आहुति देता है तो उसे दीक्षित कहते हैं और चूंकि ऐसा ब्राह्मण के साथ है, इसलिए अन्य के साथ भी ऐसा ही है। नीची जातियों के अंतर्गत हादी का स्थान ऊंचा है क्योंकि वे स्वयं को गंदे कर्मों से दूर रखते हैं। दूसरे क्रम में डोम होते हैं जो सारंगी बजाते हैं और गाते हैं। उनसे भी निम्नतम वर्ग बधिकों तथा जल्लादों का है। सबसे बुरे बधाान्तन होते हैं, जो न केवल मरे हुए जानवरों का मांस खाते हैं, बल्कि कुत्ते तथा अन्य जानवरों का भी मांस खाते हैं।

चारों जातियों में प्रत्येक जाति के लोग अपनी बिरादरी के साथ मिलकर ही खाना खाते हैं। भिन्न जातियों के दो व्यक्तियों के साथ-साथ खान-पान नहीं होता। यदि किसी ब्राह्मण के समूह में ऐसे दो व्यक्ति हैं जो एक-दूसरे के शत्रु है और वे एक-दुसरे के पास बैठ गए हैं तो वे दोनों अपने आसनों के बीच तख्ती रखकर या कपड़े का टुकड़ा रखकर या किसी अन्य तरीके से बाड़ बना लेते हैं और उनके बीच यदि मात्र कोई रेखा ही खींची होती है तो उन्हें अलग-अलग माना जाता है। चूंकि किसी के बचे हुए भोजन को खाना निषिद्ध है, इसलिए हरेक अकेले व्यक्ति को स्वयं के लिए अपना खाना रखना पड़ता है, क्योंकि खाना खाने वाले दल के प्रत्येक व्यक्ति को एक ही थाली से खाना लेना होता है, अतः पहले व्यक्ति द्वारा खा चुकने के बाद जो कुछ भी उस थाली से बच जाता है, वह दूसरी बार खाने वाले व्यक्ति के लिए जूठन माना जाता है, जिसे खाना निषिद्ध है।"

अलबरूनी ने केवल वहीं तक स्वयं को सीमित नहीं रखा जहां तक उसे हिंदू समाज-संगठन ने आकर्षित किया, बल्कि उसने यहां तक कहा :

> ''हिंदुओं में ऐस समाज बहुत हैं। मुसलमान इनसे बिल्कुल अलग हैं, सभी व्यक्तियों को समान मानते है, केवल धर्मपरायणता को छोड़कर हिंदू और मुसलमानों के बीच मेल-जोल, स्थायित्व होने में यही सबसे बड़ी बाधा है।''

1500 ई. से 1571 ई. तक भारत में पुर्तगाली सरकार की सेवारत एक पुर्तगाली अधिकारी के बारे में अपने अनुभव को दर्ज किया है। गुजरात राज्य के बारे में वह कहता है :

> ''बीढ़ के हाथों में गुजरात राज्य के आने के पहले मूर्ति-पूजकों की एक विशेष जाति जिसे बीढ़ राजपूत कहते थे, यहां रहते थे, जो उन दिनों इस देश के सरदार तथा रक्षक हुआ करते थे तथा आवश्यकतानुसार युद्ध किया करते थे। ये लोग भेड़ तथा मछलियों को मारकर तथा अन्य सभी प्रकार की खाद्य सामग्री खाते हैं। पहाड़ों में अब भी इनमें से बहुत से है जहां अब भी इनके बहुत बड़े-बड़े गांव हैं और वे गुजरात के राजा की आज्ञा का उल्लंघन ही नहीं करते वरन् वे उसके खिलाफ रोजाना युद्ध करते हैं; राजा उनके विरुद्ध डटे रहने में अब भी सक्षम नहीं हैं क्योंकि वे बहुत अच्छे घुड़सवार - धनुर्धर होते हैं और बीढ़ी से अपना रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार के हथियार रखते हैं, जिनके आधार पर वे लगातार युद्ध करते रहते हैं; फिर भी न तो कोई उनका राजा होता और न ही उनका कोई मालिक। और इसी राज्य में एक अन्य प्रकार से मूर्ति-पूजक हैं जिन्हें बनियां कहते हैं, (जो बहुत बड़े व्यापारी हैं) वे बीढ़ी के साथ रहते हैं और अपना व्यापार उन्हीं के साथ करते हैं। ये लोग न तो मांस खाते हैं न मछली खाते हैं और न ही कोई ऐसी अन्य चीज खाते हैं जो मर सकती है, वे किसी की हत्या नहीं करते न ही वे किसी जानवर की हत्या देखना पसंद करते हैं; और इस प्रकार वे अपनी मूर्ति-पूजा जारी रखते हैं तथा इसे पूरी श्रद्धा के साथ करते हैं, और आश्चर्य की चीज होती है अक्सर ऐसा होता है कि बीढ़ उनके पास जीवित कीड़े-मकोड़े या छोटे-छोटे पक्षी पकड़ लाते हैं और उन्हें उनके ही सामने मारने का नाटक करते हैं तो ये बनिया लोग उन जीव जंतुओं को खरीद लेते हैं और उनके बदले जो पैसे देते हैं ये पैसे उनकी वास्तविक कीमत से भी ज्यादा होते हैं ताकि उन जीव-जंतुओं का जीवन बच सके और वे मुक्त विचरण कर सकें। यदि

राज्य के राजा या गवर्नर किसी व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए अपराध के लिए फांसी की सजा दे देता है तो वे स्वयं एक साथ इकट्ठे हो जाते हैं और उस व्यक्ति को न्यायालय से खरीद लेते हैं, यदि वे उसे बेचने के इच्छुक हों, ताकि उसकी मृत्यु न हो। अनेक प्रकार के बीढ़ फकीर जब इन लोगों से भीख लेना चाहते हैं। तो वे बड़े-बड़े पत्थरों से अपने कंधों और पेट को जोर-जोर से पीटते हैं, मानों वे स्वयं को उनके सामने मार ही डालेंगे। इसे रोकने के लिए वे उन्हें बहुत ज्यादा भिक्षा दे देते हैं ताकि वे शांतिपूर्वक चले जाएं। अन्य अपने पास छुरी-चाकू रखते हैं, जिनसे वे ऊपरी बाहों और टांगों को घायल कर लेते हैं और इनको भी वे बहुत सारी भिक्षा दे देते हैं ताकि वे स्वयं को न मारें। अन्य उनके दरवाजे पर जाते हैं और अपने लिए चूहे तथा सर्पों को मारने की धमकी देते हैं। उन्हें भी वे बहुत सारा धन दे देते हैं ताकि वे ऐसा न करें। इसकी वजह से बीढ़ उनका सम्मान करते हैं। जब ये बनिया लोग सड़क पर चींटियों के झुंड को देखते हैं, तो वे पीछे हट जाते हैं और उन्हें बिना कुचले हुए दूसरे रास्ते से निकल जाते हैं और अपने घरों में वे दिन के प्रकाश में ही भोजन करते हैं। वे न तो रात में और न दिन में दिया जलाते हैं, क्योंकि छोटे-छोटे कीट-पतंगे उसी लपटों से जल जाते हैं जब रात में प्रकाश की बहुत आवश्यकता होती है तो उनके पास वार्निश किए गए कागज या कपड़े की लालटेन होती है, ताकि कोई भी जीवधारी उसमें प्रवेश न कर सके और उसकी लपटों से न मर सकें और यदि इन लोगों के जुएं पड़ जाती हैं तो वे उन्हें मारते नहीं हैं। लेकिन जब से उन्हें अत्यधिक कष्ट देती हैं तो वे उन मूर्तिपूजकों को बुलाते है जो उन्हीं से साथ रहते हैं, जिन्हें वे पवित्र व्यक्ति मानते हैं और जो साधुओं के सदृश होते हैं, कड़ी तपस्या करके जीवन बिताते है और देवताओं की भक्ति करते हैं। बनिए लोग इन्हें अपने घरों में रखते हैं, और ये जितनी भी जुएं पकड़ते हैं, उन्हें अपने सिरों पर रख लेते हैं और मांस खिलाकर उनकी वृद्धि करते हैं तथा ऐसा करके वे कहते हैं वे अपने कष्ट की बहुत बड़ी सेवा करते हैं। इस प्रकार वे कभी हत्या न करने के अपने नियम का कठोरता से पालन करते हैं। दूसरी ओर वे बढ़े सूदखोर होते हैं, माप तौल, सिक्के और दूसरी चीजों में परले सिरे की बेईमानी करते हैं तथा बड़े झूठे होते हैं। वे मूर्तिपूजक लोग सांबले, लंबे, नाजुक और सुंदर होते हैं। सुंदर वस्त्र पहनते है तथा बहुत ही सात्विक भोजन करते हैं वे अपने खाने में दूध,

मक्खन, चीनी, चावल लेते हैं और अनेक प्रकार के परिरक्षित पदार्थ लेते हैं, वे फल-सब्जियों का बहुत अधिक उपयोग करते हैं तथा अपने खाने में हरा साग लेते हैं, जहां कहीं भी वे रहते हैं, उनके फलों के बगीचे तथा अनेक जलाशय होते हैं, जहां स्त्री तथा पुरुष दिन में दो बार नहाते हैं और नहाने के बाद कहते हैं कि वे अब तक किए गए सभी पापों से मुक्त हो गए हैं। हमारी स्त्रियों की तरह से बनिया लोग लम्बे-लम्बे बाल रखते हैं, और सिर पर चुटिया बनाकर उसमें गांठ लगाते हैं और उस पर पगड़ी पहनते हैं ताकि वे उन्हें एक साथ बंधा हुआ रख सकें। वे अपने बालों में फूल तथा अन्य सुगंधित चीजें लगाते हैं।

वे केसर तथा अन्य इत्रों वाले सुगंधित केसर और चंदन का लेप करते हैं। वे बहुत ही कामुक होते हैं। वे सूती तथा सिल्क का लम्बा कुर्ता और चमड़े के बने नुकीले तथा चमकीले कीमती जूते पहनते हैं : उनमें कुछ लोग रेशमी और जरीदार कपड़े की छोटी-छोटी बंड़ी पहनते हैं। वे सोने तथा चांदी से सज्जित चाकुओं को छोड़कर हाथियार नहीं रखते और ऐसा दो कारणों से है, पहला यह कि वे ऐसे लोगे हैं जो हथियार का बहुत ही कम उपयोग करते हैं; तथा दूसरा कारण यह है कि बीढ़ उनकी रक्षा करते हैं।

''मूर्ति-पूजकों का एक और वर्ग है, जिसे वे ब्राह्मण कहते हैं और उनमें जो पुरोहित होते हैं, वे बड़े आकार वाले अपने पूजा-स्थलों तथा प्रार्थना-स्थलों की व्यवस्था करते हैं तथा उन पर उनका अधिकार होता है, जिससे अत्यधिक आमदनी होती है और उनमें से अनेक भिक्षा पर जीते हैं। इनके घरों में लकड़ी की और कुछ पत्थर तथा कांसे की बनी हुई अनेक मूर्तियां होती हैं, और इन घरों या पूजा-घरों में वे इन मूर्तियों के सम्मान में बड़े-बड़े आयोजन करते हैं, मोमबत्तियां तथा तेल के दीपक जलाते हैं और हमारी तरह घंटियां भी बजाते हैं। इन ब्राह्मणों तथा मूर्ति-पूजकों के धर्म में पवित्र त्रिमूर्ति से बहुत समानताएं है और वे त्रिमूर्ति के संबंधों को अत्यधिक सम्मान देते हैं, हमेशा उनकी प्रार्थना करते हैं। जिनके सामने वे अपनी गलतियों को स्वीकार करते हैं और उसे अपना सच्चा ईश्वर, सृजक तथा सभी पदार्थों का निर्माता मानते हैं। त्रिमूर्ति तीन व्यक्ति और एक ईश्वर है और वे कहते है कि अनेक अन्य ईश्वर भी हैं, जो उसके अधीन कार्य करते हैं और वे उनमें भी विश्वास रखते हैं। ये ब्राह्मण तथा मूर्तिपूजक जहां कहीं हमारे गिरजाघरों को देखते हैं, वे उनमें प्रवेश करते हैं और हमारी प्रतिमाओं की पूजा-अर्चना करते हैं,

हमेशा सांता मरिया के लिए पूछते हैं, जैसे कि उनको इसके बारे में समझ और जानकारी हो, और वे हमारे गिरजाघरों का हमारी तरह सही सम्मान करते हैं, और कहते है। कि हमारे और उनके बीच कोई खास अंतर नहीं। ये मरने वाली वस्तु को नहीं खाते और ये किसी की हत्या नहीं करते हैं। नहाने को ये बहुत बड़ा आयोजन मानते हैं तथा कहते हैं कि इससे उनको मोक्ष मिलता है।''

''कालीकट राज्य की बात करते हुए बारबोसा कहता है :

कालीकट राज्य में ही एक अन्य जाति के लोग भी हैं, जिन्हें ब्राह्मण कहा जाता है, जिनमें से कुछ पुरोहित वर्ग के हैं (जैसे कि हम लोगों में पादरी होते हैं) जिनके बारे में मैं पहले ही कह चुका हूं। ये सभी एक ही भाषा बोलते हैं। ब्राह्मण के बेटे के अलावा कोई दूसरा ब्राह्मण नहीं बन सकता। जब ये सात वर्ष का होता है तो वह किसी खास जंगली जानवर, जो जंगली गधे के समान होता है, की बिना कमाई गई खाल की दो अंगुली मोटी पट्टी कंधे पर धारण करता है और अगले सात वर्षों तक, जब तक वे इस पट्टी को पहने रहते हैं, पान नहीं खाते हैं। जब वह चौदह वर्ष का हो जाता है, तब ये उसे ब्राह्मण बनाते हैं और उसका वह चमड़े का पट्टा वापस ले लेते हैं तथा उसे एक धागे की तीन लड़ियों वाला सूत्र पहनाते हैं, जिसे वह सारी उम्र पहने रहता है और जो उसके ब्राह्मण होने का प्रतीक होता है। ऐसा वे बड़े समारोहों का आयोजन करके करते हैं, जैसा कि हम यहां किसी पादरी के मामले में करते हैं जब वह पहली बार गिरजाघर में पूजा में भाग लेता है। उसके बाद ब्राह्मण पान खा सकता है, लेकिन मांस या मछली नहीं खा सकता। उनका भारतीयों के बीच अधिक सम्मान होता है और जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, वे कुछ भी करें, उन्हें मृत्यु-दंड नहीं दिया जा सकता। उनके मुखिया ही उन्हें छोटा-मोटा दंड देते हैं। वे हमारी तरह एक बार शादी करते हैं और उनमें केवल सबसे बड़ बेटा ही शादी करता है। उसे सम्पत्ति के अखंड स्वामी के रूप में माना जाता है। दूसरे भाई जीवन भर अविवाहित रहते हैं। ये ब्राह्मण अपनी पत्नियों को सुरक्षित रखते हैं और उनका अत्यंत सम्मान करते हैं ताकि कोई दूसरा व्यक्ति उनके साथ सो न सके। यदि उनमें से कोई मर जाती है, जो वे पुनः शादी नहीं करते। लेकिन यदि कोई महिला अपने पति के साथ प्रपंच करती है तो उसे जहर देकर मार दिया जाता है, जो भाई कुंवारे रहते हैं वे नायर महिलाओं

के साथ सोते हैं, वे इसे अधिक सम्मान की बात मानते हैं और चूंकि वे ब्राह्मण होते हैं इसलिए कोई भी महिला उनको मना नहीं करती; वे अपने से उम्र में बड़ी किसी भी महिला के साथ नहीं सो सकते। वे अपने घरों और शहरों में रहते हैं और मंदिरों में पुजारी का कार्य करते हैं तथा वे दिन में खास समय पर पूजा करने के लिए वहां जाते हैं तथा अपने संस्कार और मूर्ति-पूजा संपन्न करते हैं। वहां पुरोहित के रूप में सेवा करते हैं। इनमें से कुछ ब्राह्मण अपने राजाओं के लिए युद्ध लड़ने के अलावा सब प्रकार की सेवा करते हैं। ब्राह्मण या उसके निजी रिश्तेदार को छोड़कर कोई भी अन्य व्यक्ति राजा के लिए खाना नहीं पका सकता; वे दूसरे देशों को धन या व्यापार का सामान ले जाने का कार्य करते हैं। वे जहां कहीं भी जाना चाहते हैं, सुरक्षापूर्वक जाते हैं और उनके साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं करता भले ही उस समय इन देशों के राजा आपस में युद्ध करते हों। ये ब्राह्मण अपनी मूर्ति-पूजा में पारंगत होते हैं और अपने पास मूर्ति-पूजा विषयक कई पुस्तकें रखते हैं। राजा इसका अत्यधिक सम्मान करते हैं।''

''मैं पहले ही कई बार नायारों के बारे में बता चुका हूं, लेकिन फिर भी अब तक मैंने आपको यह नहीं बताया कि वह किस प्रकार के लोग होते हैं। आप जानना चाहेंगे कि मलाबार में एक दूसरी जाति के लोग भी हैं, जिन्हें नायर कहते हैं। इनमें कुछ कुलीन लोग हैं जो लड़ाई लड़ने के अलावा कोई और कार्य नहीं करते, और वे जहां कहीं भी जाते हैं, अपने हथियार साथ लेकर जाते हैं। कुछ तलवार तथा ढाल ले जाते हैं, अन्य तीन-कमान ले जाते हैं और कुछ अन्य भाला ले जाते हैं। वे सभी राजा और अन्य बड़े-बड़े सामंतों के साथ रहते हैं। उन्हं उन राजा या बड़े-बड़े सामतों से वृत्तिका मिलती है, जिनके साथ ये रहते हैं। जो नायर वंश का है, उसको छोड़कर और कोई नायर नहीं बन सकता। उनकी कुलीनता पर कोई धब्बा नहीं लगा होता। वे किसी निम्न जाति के व्यक्ति को नहीं छूते हैं और न ही नायर के घर को छोड़कर किसी के घर का खाना और पानी पीते हैं। ये लोग शादी नहीं करते। उनके भांजे उनके उत्तराधिकारी होते हैं। अच्छे घर में पैदा हुई नायर महिलाएं स्वतंत्र होती है और वे जिस किसी ब्राह्मण या नायर को पसंद करती हैं, उसके साथ समय व्यतीत करती हैं। लेकिन वे अपनी बिरादरी से नीचे के लोगों के साथ मृत्य-दंड के भय से नहीं सोतीं। जब वह बारह वर्ष की हो जाती हैं, तब उनकी माताएं बहुत बड़े समारोह का आयोजन करती हैं। जब मां यह देखती है कि उसकी

लड़की वयस्क हो गई है तो वह अपने रिस्तेदारों तथा मित्रों को अपनी पुत्री का सम्मान करने के लिए तैयार करती है। इसके बाद वह किसी खास रिश्तेदार या खास मित्र को अपनी पुत्री से विवाह करने के लिए कहती है। इसके लिए वह व्यक्ति स्वेच्छा से वायदा करता है और तब वह एक आभूषण बनवाता है, जो आधी अशरफी का बना होता है और जो आकार में पट्टी की तरह लंबा होता है इसके बाद मां एक निर्धारित दिन को अपनी सजी-धजी पुत्री के साथ उपस्थित होती है जो बहुमूल्य आभूषण पहने होती है। बड़े आनंदपूर्वक नाच-गाना होता है और लोगों की बहुत भीड़ जमा होती है। उसके बाद सगे-संबंधी या मित्र उस आभूषण को लेकर आते हैं और कुछ खास क्रियाकलाप करके उस आभूषण को उस लड़की के गले में पहना देते हैं। वह इसे जीवन भर एक प्रतीक के रूप में पहने रहती है और उसके बाद वह जिसके साथ भी रहना चाहती है, रह सकती है। वह व्यक्ति उसके पास बिना सोये ही चला जाता है, क्योंकि वह उसका सगा-संबंधी होता है। यदि वह उसका रिश्तेदार नहीं है तो वह उसके साथ सो सकता है, लेकिन वह उसके साथ सोने के लिए बाध्य नहीं होता। उसके बाद मां अपनी पुत्री के लिए नवयुवकों की तलाश करती है; वह नायर होना चाहिए जो उसकी पुत्री के साथ संभोग कर सके। वे किसी महिला का कोमार्य भंग करना घिनौना काम समझते हैं और जब कोई व्यक्ति एकबार उसके साथ सो लेता है, वह दूसरे लोगों के साथ सहवास करने के योग्य हो जाती है। इसके बाद मां नायरों के बीच अन्य युवा नायरों की खोज करती है, जो उसकी पुत्री को रख सके, और उसकी अपनी रखैल बना सके, ताकि तीन या चार नायर उसे रखने और उसके साथ सोने के लिए तैयार हों तथा प्रत्येक उसे प्रातः दिन के लिए निर्धारित धन-राशि दे। उसके जितने अधिक प्रेमी होते हैं, उसका उतना ही अधिक सम्मान होता है। उनमें से प्रत्येक उसके साथ दिन के दोपहर से लेकर अगले दिन की दोपहर तक समय गुजारता है और इस प्रकार वे बिना किसी अंशाति के या आपस में झगड़ा किए हुए समय बिताते हैं। यदि उनमें से कोई भी उसे छोड़ना चाहता है, तो वह उसे छोड़ देता है, और दूसरी के साथ चला जाता है। ठीक इसी तरह यदि वह किसी व्यक्ति से दुखी या परेशान हो जाती है, तो वह उसे जाने के लिए कह देती है, और वह चला जाता है या उसके साथ अच्छे संबंध बना लेता है। यदि उनके कोई बच्चे होते हैं जो वे मां के पास रहते हैं, जो उन्हें पालती है

क्योंकि वे उन्हें किसी व्यक्ति विशेष का बच्चा नहीं मानती, भले ही उसमें और उस व्यक्ति में समानता हो, वह व्यक्ति उन बच्चों को अपने बच्चे नहीं मानता है; और न ही उन्हें अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी क्योंकि, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, उनके उत्तराधिकारी उनके भांजे होते हैं।, जो उनकी बहनों के बेटे होते हैं। यदि कोई इस नियम के बारे में गहराई से सोचेगा तो वह पाएगा कि इसे किसी सामान्य व्यक्ति की सोच की तुलना में बड़ी गहराई से सोचा-विचारा गया था, क्योंकि लोग कहते हैं कि राजाओं ने इसकी इसीलिए व्यवस्था की थी ताकि बच्चों को पालने जैसे भार और मेहनत के कारण नायरों को उनकी सेवा से अलग न रहना पड़ें।''

''मलाबार राज्य के लोगों की एक और भी जाति है जिसे वे बियाबार, भारतीय व्यापारी, देश के मूल निवासी कहते हैं। वे हर प्रकार के माल का व्यापार करते हैं और वह व्यापार समुद्री बंदरगाहों तथा देश के अंदर, दोनों जगहों पर कहते हैं जहां कहीं उनका व्यापार अत्यधिक लाभदायक हो। वे नायरों तथा किसानों से साबुन, काली मिर्च तथा अदरक इकट्ठा कर लेते हैं और समय पूर्व ही नई फसलों को सूती कपड़ों तथा अन्य वस्तुओं–जिन्हें वे समुद्री बंदरगाहों पर रखते हैं, – के बदले खरीद लेते हैं। उसके बाद वे उन्हें बेचते हैं और इस प्रकार अत्यधिक पैसा कमाते हैं। उनके विशेषाधिकार इस प्रकार के हैं कि जिस देश में भी वे रहते हैं, उस देश का राजा कानूनी प्रक्रिया द्वारा उन्हें फांसी नहीं दे सकता।''

''इस देश में एक और जाति है, जिसे कुईऐवम कहते हैं। वे नायरों से भिन्न नहीं हैं। फिर भी उस गलती के कारण जो उन्होंने की है, वे हमेशा ही अलग रहते हैं। उनका कार्य मूर्तियों और राजाओं के लिए मिट्टी के बर्तन और उनकी छतों के लिए ईटें तैयार करना होता है। इनकी छत खपरैल की जगह ईटों की बनी होती हैं; जैसा कि मैं पहले ही कहा चुका हूं दूसरे घर छप्पर के बने होते हैं। इनकी अपनी अलग ढंग की मूर्ति-पूजा होती है तथा इनकी अलग प्रकार की मूर्तियां होती हैं''।

''एक दूसरे मेनाटोज नाम की मूर्ति-पूजक जाति है, जिसका व्यवसाय राजाओं, ब्राह्मणों तथा नायरों के कपड़े धोना है। यही इनकी जीविका का साधन है और वे कोई अन्य व्यवसाय नहीं कर सकते हैं।''

''इन जातियों से नीची एक अन्य जाति और भी है, जिसे केलेटिस कहा

जाता है। ये जुलाहे होते हैं, जिनके पास सूती तथा रेशमी कपड़े बुनने के अलावा कमाई का कोई अन्य साधन नहीं होता है। वे निम्न जाति के लोग होते हैं और उनके पास न के बराबर पैसा होता है, इसलिए वे निम्न स्तर के लोगों के लिए ही कपड़े बनाते हैं। वे स्वेच्छा से अलग रहते है और उनकी अपनी अलग मूर्ति–पूजा होती है।''

''उपर्युक्त जातियों से नीचे ग्यारह अन्य जातियां और है जिनके साथ दूसरे लोग संबंध स्थापित नहीं करना चाहते, न ही उन्हें वे मृत्यु–दंड के भय से छूते हैं। उनमें आपस में भी बहुत बड़ा अंतर होता है। वे एक–दूसरे के साथ घुल–मिल नहीं सकते। इन निम्न जातियों में तूआस सबसे अधिक विशुद्ध जाति मानी जाती है। उनका मुख्य पेशा खजूर के पेड़ उगाना तथा उनके फल इकट्ठा करना होता है, जिसे वे सिर तथा पीठ पर लादकर बेचने के लिए ले जाते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में बोझा ढोने के लिए भारवाही पशु नहीं होते हैं।''

''इन जातियों से भी निम्न स्तर की एक अन्य जाति मानेन (छपी हुई पुस्तक में मैंकु है) होती है जो न तो दूसरों के साथ संबंध स्थापित करते हैं, न ही दूसरों को छूते है और न ही अन्य लोग उन्हें छूते हैं। जन–सामान्य के लिए वे धोबी होते हैं तथा वे चटाई बनाने का व्यवसाय करते हैं जिसे उन्हें छोड़कर दूसरों को वंचित किया जाता है। उनके बेटे जबरदस्ती वही व्यवसाय करते है उनकी मूर्ति–पूजा का ढंग बिल्कुल अलग होता है।''

''इस क्षेत्र में इससे भी निम्न स्तर की जाति होती है, जिसे कैनेकास कहा जाता है। इनका व्यवसाय बकसुए तथा छतरी बनाना होता है। वे अक्षर ज्ञान खगोल विद्या के उद्देश्य से ही प्राप्त करते हैं। वे बहुत बड़े ज्योतिषी होते हैं और आने वाली घटनाओं के बारे में बहुत ही सत्यता के साथ भविष्यवाणी करते हैं। कुछ सामंत उन्हें इसी निमित्त रखते हैं।''

''एक और भी मूर्ति–पूजक निम्न जाति है, जिसे जेरस कहते हैं। वे मिस्त्री, बढ़ई, लुहार, कसेरे तथा कुछ सुनार होते हैं। इनमें से सभी सामान्य स्तर के होते हैं जिनकी अलग जाति होती है और जिनकी मूर्तियां अन्य लोगों से भिन्न होती हैं। ये शादी करते हैं तथा इनके बेटे इनकी संपत्ति के हकदार होते हैं और अपने पूर्वजों के व्यवसाय की शिक्षा लेते हैं।''

''इस देश में इससे भी निम्न स्तर की एक जाति होती है, जिसे मोजेरस कहा जाता है। वे ठीक लुआस की तरह होते है, लेकिन वे एक–दूसरे को स्पर्श

नहीं करते। वे राजाओं का एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवास के समय सभी प्रकार का सामान ले जाने का काम करते हैं, लेकिन वे इस क्षेत्र में बहुत कम हैं। वे अलग जाति के होते हैं। इनके शादी-विवाह के कोई नियम नहीं होते हैं। इनमें से ज्यादातर समुद्र से जीवन यापन करते हैं; वे नाविक होते हैं, और उनमें से कुछ मछुआरे होते हैं; ये कोई मूर्ति-पूजा नहीं करते। वे नायरों के दास भी होते है।''

''इससे भी निम्न जाति होती है जिसे मांकर कहा जाता है। मछली पकड़ने के अलावा इन लोगों (मछुआरों) का कोई और कार्य नहीं होता। इनमें से कुछ बीढ़ों के जहाज चलाते हैं और कुछ मूर्ति-पूजकों के जहाज चलाते हैं। ये बहुत ही कुशल नाविक होते हैं। यह जाति बहुत ही अक्खड़ होती है। वे बेशर्म चोर होते हैं, से शादी-विवाह करते हैं और इनके बेटे इनके उत्तराधिकारी होते हैं। इनकी औरतें चरित्रहीन होती हैं और किसी के साथ भी सो सकती हैं तथा इसे वे पाप नहीं समझतीं। इनकी अपनी मूर्ति-पूजा होती है।''

''मलाबार क्षेत्र में मूर्ति-पूजकों की एक दूसरी जाति भी होती है जो और भी निम्न स्तर की होती है। इसे बेतुनस कहते हैं। इनका व्यवसाय नमक बनाना तथा चावल उगाना है। इनका और कोई जीविका का साधन नहीं होता।

इनके घर सड़कों से दूर मैदानों में होते हैं, जहां भले लोग जाते नहीं हैं। इनकी अपनी मूर्ति-पूजा होती है। ये राजाओं तथा नायरों के दास होते हैं और अपना जीवन गरीबी में बिताते हैं। नायर उन्हें अपने से बहुत कदम पीछे चलने देते हैं और उनसे बात भी दूरी से करते हैं। ये किसी दूसरी जाति के साथ संबंध स्थापित नहीं कर सकते।''

''मूर्ति-पूजकों की दूसरी जाति भी है जो इनसे निम्न तथा उजड्ड होती है, जिसे पाणिन कहते हैं। ये लोग बहुत बड़े जादूगर होते हैं तथा इसके अलावा उनका कोई और जीविका का साधन नहीं होता।''

''इनसे भी निम्न स्तर की तथा अक्खड़ एक और जाति है, जिसे रिवोलिन कहा जाता है। ये लोग बहुत ही गरीब होते हैं और कस्बों में जलाने की लकड़ी तथा घास बेचते हैं। ये किसी को छू नहीं सकते और न कोई मृत्यु-दंड के भय से इन्हें छू सकता है। वे वस्त्रहीन होते हैं और केवल अपने गुप्तागों को फटे पुराने चीथड़ों से ढकते हैं। इनके शरीर के अधिकांश हिस्से खास पेड़ों की पत्तियों से ढके रहते हैं। इनकी महिलाएं अपने कानों में पीतल की

बालियां पहनती हैं और अपनी गर्दन, बांह या पैरों में पीतल के बने आभूषण पहनती हैं। ये हार भी पहनती हैं।''

''इन जातियों से निम्न मूर्ति-पूजकों की एक और जाति भी है जिसे पोलियाज कहते हैं। यह अन्य सभी जातियों में अभिशप्त और समाज से बहिष्कृत होती हैं। ये लोग मैदानों तथा खुले डेरों में गुप्त स्थानों में रहते हैं, जहां अच्छे लोग कभी नहीं जाते और यदि संयोगवश चले जाए तो अलग बात है। ये लोग झोपड़ियों में बड़े निम्न तरीके से रहते हैं। वे भैसों तथा बैलों की मदद से चावल उगाते हैं तथा भैंसे और बैल रखते हैं। ये नायरों से कभी नहीं बोलते हैं और कभी-कभी उनसे बोलते भी हैं तो काफी दूर से चिल्लाकर बोलते हैं ताकि वे सुन सकें। ये लोग चीखते-चिल्लाते हुए सड़क पर चलते हैं और जो कोई भी इनकी आवाज सुनता है, वह पेड़ के किनारे खड़ा रहकर इन्हें रास्ता दे देता है। यदि कोई पुरुष या स्त्री इन्हें छू लेती है तो उसके सगे-संबंधी उसे वही मार देते हैं तथा वे बदले की भावना से पोलियास की हत्या कर देते हैं, यदि कोई दंड भुगतने का भय न हो।''

''इससे भी निम्न और हीन एक और भी जाति है, जिसे पारेन कहते हैं। ये लोग अन्य सभी जातियों से दूर निर्जन स्थानों पर रहते हैं। ये किसी व्यक्ति के साथ संबंध नहीं रखते और न ही अन्य कोई व्यक्ति इनके साथ संबंध रखता है। ये लोग भूत-पिशाचों से भी बुरे और तिरस्कृत समझे जाते हैं। इन्हें देखना भी अपवित्र और जाति बहिष्कृत माना जाता है। ये जिमीकंद तथा जंगली पौधों की जड़ें खाते हैं। ये लोग अपनी शरीर के मध्य भाग को पत्तियों से ढकते हैं जंगली जानवरों का मांस भी खाते हैं।''

''इसके साथ ही मूर्ति-पूजक जातियों के बीच विद्यमान अंतर का वर्णन समाप्त होता है। इन जातियों की संख्या कुल मिलाकर 18 है। इनमें से प्रत्येक एक-दूसरे से भिन्न हैं। ये लोग न तो एक-दूसरे को छूते हैं, और न ही एक दूसरे के साथ शादी-विवाह करते हैं। मलाबार की इन मूल जातियों के बारे में आपको बता चुका हूं। इनके अलावा इस क्षेत्र के अन्य विदेशी व्यापारी तथा व्यवसायी भी हैं जिनके अपने घर तथा जायदाद है और जो मूल निवासियों की तरह रहते है, लेकिन उनके रीति-रिवाज अपने ही हैं।''

यह बात समझ में आती है कि ये विदेशी जाति के समग्र तथा विस्तृत चित्रण प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं थे, क्योंकि प्रत्येक विदेशी के लिए हिंदुओं को निजी जीवन पर्दे में होता है ओर उनके लिए यह संभव नहीं है कि वे इसे पैनी निगाह से देख सकें। भारत की सामाजिक रचना, उसकी प्रेरक शक्ति, अलग-अलग स्थानों पर स्थान

परिवर्तन एवं निजी तथा अनूठे रिवाजों से संचालित होती है, न कि कानूनी तंत्र द्वारा, जिसे किसी कानूनी ग्रंथों से लिया जा सके। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि इन विदेशियों को हिंदू समाज की जातियां अत्यंत विचित्र और अत्यधिक विलक्षण लगीं। अन्यथा उन्होंने इसे लिखित रूप में दर्ज नहीं किया होता और उन्होंने वह सब-कुछ नहीं लिखा होता, जो उन्होंने भारत में आने के बाद देखा।

इस प्रकार हिंदू समाज-संगठन में जाति कुछ विशेष स्थान रखती हैं और हिंदुओं को अन्य कौमों से अलग करती हैं। जाति एक निरंतर बढ़ने वाली संस्था रही है। यह कभी भी एक समान नहीं रही है। जब मैगस्थनीज ने अपना लेखा-जोखा दिया था, उस समय जाति का स्वरूप तथा आकृति अलबरूनी के विवरण में दी गई जाति के स्वरूप तथा आकृति से भिन्न थी। वह जो पुर्तगालियों के समय में थी, अलबरूनी के समय से भिन्न थी। लेकिन जाति को समझने के लिए उसकी प्रवृत्ति का अत्यधिक विशुद्ध अध्ययन आवश्यक है, जिसे ये विदेशी समझने में असमर्थ थे।

जाति के विषय पर चर्चा करने से पहले पाठक को कुछ मूल संकल्पनाओं से अवगत कराना आवश्यक है, जो हिंदू समाज-संगठन की आधार हैं। हिंदुओं में प्रचलित सामाजिक प्रणाली का सूत्रपात चार वर्णों के उद्‌भव के साथ शुरू होता है और विश्वास किया जाता है कि इनमें हिंदू समाज बंटा हुआ है। इन चारों वर्णों को चार नाम दिए गए (1) ब्राह्मण, पुरोहित तथा शिक्षित वर्ग (2) क्षत्रिय, सैनिक वर्ग (3) वैश्य, व्यापारी वर्ग, तथा (4) शूद्र, सेवक वर्ग। कुछ समय तक ये वर्ण केवल वर्ण ही रहे। कुछ समय के बाद जो केवल वर्ण ही थे, वे जातियां बन गईं और वे चार जातियां चार हजार बन गईं। इस प्रकार आधुनिक जाति-व्यवस्था प्राचीन वर्ग व्यवस्था का विकास मात्र है।

निस्संदेह यह जाति-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था का ही विकास है। लेकिन वर्ण-व्यवस्था के अध्ययन द्वारा कोई भी जाति व्यवस्था के विचार को नहीं समझ सकता है। जाति का वर्ण से पृथक अध्ययन किया जाना चाहिए।

II

कहा जाता है कि पुराने अनीश्वरवादी ने अपने दर्शन को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया है : केवल एक बात जो मैं जानता हूं, वह यह है कि मैं कुछ नहीं जानता; और मुझे विश्वास नहीं कि मैं उसे जानता हूं।

सर डेंजल एबट्सन ने पंजाब में जातिप्रथा के बारे में लिखते हुए कहा था कि इस अनीश्वरवादी ने जो कुछ उसके दर्शन के बारे में कहा है, वह जातिप्रथा के बारे में उसकी भावनाओं को सही रूप में दर्शाता है। निस्संदेह यह सत्य है कि स्थानीय

परिस्थितियों के कारण जातिगत मामलों में कुछ भिन्नता पाई जाती है और इन जातियों के बारे में कोई विवरण देना बहुत ही कठिन होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो बात एक स्थान पर लागू होती है, वही दूसरे स्थान पर इसके विपरीत है।

ठीक है कि जातिप्रथा की आवश्यक और मूलभूत विशेषताओं को उसकी अनावश्यक तथा फालतू विशेषताओं से अलग करना कठिन नहीं है। परंतु इसके निश्चित करने का तरीका यह है कि यह पूछा जाए कि वे कौन-कौन से मामले हैं, जिनके अंतर्गत एक व्यक्ति जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। श्री भट्टाचार्य ने जाति से निष्कासन के निम्नांकित कारण बताएं हैं : (1) ईसाईयत या इस्लाम स्वीकार करना? (2) यूरो या अमरीका जाना, (3) विधवा से शादी करना, (4) यज्ञोपवीत को सबके सामने फेंकना, (5) सबके सामने गौ-मांस, सुअर का मांस या मुर्गे का मांस खाना, (6) किसी मुसलमान, ईसाई या निम्न हिंदू जाति द्वारा बनाया गया कच्चा खाना सबके सामने खाना, (7) किसी निम्न जाति के शूद्र के घर पुरोहितीय कर्म करना, (8) किसी महिला द्वारा अनैतिक कार्यों के लिए घर से बाहर जाना, तथा (9) किसी विधवा का गर्भवती होना। यह विस्तृत सूची नहीं है और इसमें वे तीन मुख्य अति-महत्वूपर्ण कारण छूट जाते हैं, जिनके कारण जाति से बहिष्कार किया जाता हैं। वे हैं (10) जाति से बाहर अंतर्जातीय विवाह, (11) अन्य जाति के लोगों के साथ बैठकर खाना खाना, तथा (12) व्यवसाय बदलना। श्री भट्टाचार्य के कथन का दूसरा दोष यह है कि इससे आवश्यक तथा अनावश्यक तत्वों के बीच कोई अंतर प्रतीत नहीं होता।

निस्संदेह जब कोई व्यक्ति अपनी जाति से निष्कासित किया जाता है, तो यह दंड-समान होता है। उसके मित्र, रिश्तेदार तथा संगी-साथी उसका आथित्य स्वीकार करने से मना कर देते हैं। वे उसे अपने घरों में आमोद-प्रमोद के लिए आमंत्रित नहीं करते। वह अपने बच्चों के रिश्ते नहीं कर सकता। यहां तक कि उसकी विवाहित पुत्रियां भी उसके घर नहीं आ सकतीं, क्योंकि उन्हें अपनी जाति से बहिष्कार का भय रहता है। उसका पुरोहित, उसका नाई तथा धोबी उसका कार्य करने से मना कर देता है। उसके अपने जाति-बिरादरी के लोग उसके साथ यहां तक संबंध विच्छेद कर लेते हैं कि वे उसके घर में हुई किसी सदस्य की मृत्य पर उसके दाह-संस्कार में भी जाने को मना कर देते हैं। कुछ मामलों में जाति से निष्कासित किए गए व्यक्ति को मंदिरों तथा श्मशानघाट पर भी जाने से रोका जाता है।

जाति से निसकासन के ये कारण अप्रत्यक्ष रूप से जाति के विधान को दर्शाते हैं। लेकिन ये सभी नियम और विधान मौलिक नहीं हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जो अनावश्यक हैं। उनके बिना जातिप्रथा बनी रह सकती है। आवश्यक तथा अनावश्यक के बीच दूसरे प्रश्न को पूछकर भेद किया जा सकता है। क्या कोई हिंदू जो अपनी

जाति से बहिष्कृत कर दिया गया है, पुनः अपनी जाति में शामिल किया जा सकता है? हिन्दुओं में प्रायश्चित करने की प्रथा है। समाज में निष्कासित व्यक्ति को प्रायश्चित करना पड़ता है। प्रायश्चित करते समय कुछ बातें ध्यान में रखनी होती हैं। पहले तो यह कि जाति के अपराधों में मामलों के कोई प्रायश्चित नहीं होता। दूसरी बात यह है कि ये प्रायश्चित अपराध के अनुसार बदलते रहते हैं। कुछ मामलों में इन प्रायश्चितों में बहुत ही अल्प दंड शामिल होता है। अन्य मामलों में दंड बहुत ही कठोर होता है।

प्रायश्चित के होने और न होने का विशेष महत्व है, इसे स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए। प्रायश्चित के न होने का मतलब यह नहीं है कि कोई व्यक्ति अपराध करे और उसे माफ कर दिया जाए। इसके विपरीत इसका तात्पर्य यह है कि अपराध की प्रकृति ऐसी है जिसकी गहनता को मापा नहीं जा सकता और यदि अपराधी को निष्कासित कर दिया गया तो उसे पुनः जाति में शामिल नहीं किया जा सकता। उसका उसी जाति में पुनः प्रवेश संभव नहीं है, जिस जाति से उसे निष्कासित किया गया है। प्रायश्चित के होने का अर्थ यह है कि अपराध शमन हो सकता है। अपराधी निर्धारित प्रायश्चित कर सकता है और उस जाति में पुनः प्रवेश पा सकती है, जिससे उसे निष्कासित किया गया है।

दो अपराध ऐसे हैं, जिनके लिए कोई प्रायश्चित नहीं होता। ये हैं (1) हिंदू धर्म से अन्य धर्म में धर्मान्तरण तथा (2) अन्य जाति या अन्य धर्म के व्यक्ति के साथ शादी-विवाह। यह स्पष्ट है कि यदि इन अपराधों के कारण किसी व्यक्ति को अपनी जाति से निकाला गया है तो यह हमेशा के लिए बहिष्कृत हो गया।

अन्य अपराधों के लिए निर्धारित प्रायश्चित कठोर हैं। वे अपराध दो हैं - (1) किसी अन्य जाति या गैर हिंदू व्यक्ति के साथ खान-पान करना, तथा (2) वह व्यवसाय करना, जो उस जाति का नहीं है। अन्य अपराधों के मामलों में दंड बहुत ही हल्का-फुल्का होता है, लगभग न के बराबर।

जाति के मौलिक तत्व कौन से हैं तथा जाति में क्या शामिल होता है, इस बात का पता लगाने के लिए सबसे विश्वसनीय सूत्र प्रायश्चित से संबंधित नियमों द्वारा उपलब्ध कारण बताए गए हैं। वे, जिनके उल्लंघन पर प्रायश्चित की व्यवस्था ही नहीं है, वे जाति प्रथा की आत्मा हैं तथा वे जिनके उल्लंघन पर प्रायश्चित की व्यवस्था है और जो कठोरतम होते हैं, वह जाति प्रथा का शरीर है। अतः यह बिना किसी हिचक से कहा जा सकता है कि जाति के चार मूल नियम हैं। जाति को सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें - (क) हिंदू धर्म में विश्वास तथा कुछ विनियमों में बंधा होना, (ख) शादी विवाह, (ग) खान-पान, तथा (घ) व्यवसाय। जिसका कि एक सामान्य नाम है, जिसके द्वारा इसे पहचाना जा सकता है।

शादी–विवाह के मामले में निर्धारित व्यवस्था जाति का समान होना है। विभिन्न जातियों के बीच अंतर्जातीय विवाह नहीं हो सकते। यह सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक योजना है, जिस पर जाति के संपूर्ण ढांचा खड़ा हुआ है।

खान–पान के मामलों में नियम यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के साथ खाना नहीं खा सकता, न उससे खाना ले सकता है, जो उसकी जाति से संबधित नहीं है। इसका मतलब यह है कि केवल वहीं लोग जो एक–दूसरे के साथ शादी विवाह नहीं कर सकते, वे साथ–साथ खाना भी नहीं खा सकते। दूसरे शब्दों में, जाति सजातीय इकाई है, साथ ही सामुदायिक इकाई भी है।

व्यवसाय के बारे में व्यवस्था यह है कि सभी व्यक्ति को वही व्यवसाय अपनाना चाहिए, जो उसकी जाति का परंपरागत व्यवसाय है, और यदि उस जाति का कोई व्यवसाय नहीं है, तो उस व्यक्ति को अपने पिता का व्यवसाय करना चाहिए।

जहां तक किसी व्यक्ति की हैसियत का सवाल है, वह निर्धारित तथा पैतृक होती है। वह निर्धारित इसलिए होती है, क्योंकि किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसकी उस जाति द्वारा निर्धारित की जाती है, जिस जाति का वह सदस्य होता है। यह पैतृक इसलिए है, क्योंकि एक हिंदू पर उस जाति का ठप्पा लगा होता है जिस जाति के उसके माता–पिता होते हैं। एक हिंदू की वंशानुगत हैसियत नहीं बदल सकती, क्योंकि वह अपनी जाति को नहीं बदल सकता। हिंदू जिस जाति में पैदा होता है उसी जाति के सदस्य के रूप में ही मर जाता है। एक हिंदू अपनी जाति के खो देने पर अपनी प्रतिष्ठा भी खो देता है। लेकिन वह कोई नई या बेहतर या पृथक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता।

किसी जाति के सामने नाम का क्या महत्व है? इसका महत्व स्पष्ट हो जाएगा यदि हम दो प्रश्न पूछें, जो बहुत ही प्रासंगिक है और जाति की संस्था की पूरी तस्वीर के लिए प्रत्येक का सही–सही उत्तर आवश्यक है। सामाजिक समूह या तो संगठित होते हैं या असंगठित। समूह की सदस्यता लेना तथा समूहों से संगठित होना तथा छोड़ना एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था के अधीन होते हैं और इसमें उस समूह के अन्य सदस्यों के संबंध में कुछ विशिष्ट कर्तव्य तथा विशेषाधिकार शामिल होते हैं; तब वह समूह संगठित समूह होता है। कोई समूह ऐच्छिक समूह होता है, जिसमें सदस्य शामिल होते समय इस बात पर पूरा ज्ञान रखते है कि वे क्या कर रहे हैं और उन्हें उन उद्देश्यों का भी पता होता है, जो इस तरह का संबंध स्थापित करने से पूरे होंगे। दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी समूह हैं, जिनका कोई भी व्यक्ति बिना किसी इच्छा शक्ति के सदस्य बन जाता है और उन सामाजिक नियमों तथा परंपराओं के अधीन हो जाता है, जिनके ऊपर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता।

अब यह कहना आवश्यक नहीं रह जाता कि जाति बहुत ही संगठित सामाजिक समूह है। यह कोई शिथिल व्यवस्था का स्वतंत्र निकाय नहीं है। ठीक इसी प्रकार यह कहना भी आवश्यक नहीं है कि जाति एक अनिवार्य समूह है। हिंदू जाति में पैदा होता है और उस जाति के सदस्य के रूप में ही मरता है। कोई भी हिंदू बिना जाति के नहीं होता और जाति से बच नहीं सकता तथा वह जन्म से लेकर मृत्यु तक जाति से बंधा रहता है। वह उस जाति की व्यवस्थाओं पर परंपराओं का दास हो जाता है, जिनके ऊपर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता।

किसी जाति के लिए पृथक नाम का महत्व इस बात में है कि इसमें जाति संगठित तथा अनिवार्य वर्ग के नाम से जानी जाती है। किसी जाति के पृथक तथा विशिष्ट नाम के कारण यह अपेक्षा की जाती है कि उसका एक स्थायी अस्तित्व हो और एक पृथक सत्ता की छाप हो। जाति पर लिखने वाले लेखकों द्वारा पृथक जातियों के लिए अलग-अलग नामों के महत्व को पर्याप्त रूप से नहीं समझा गया है। ऐसा करते समय वे जाति की सर्वाधिक विशिष्टता को नहीं देख पाए हैं। सामाजिक समूह हैं और वे सभी समाजों में हैं। कई देशों के कई सामाजिक समूहों की भारत में अनेक जातियों के साथ तुलना की जा सकती है और उनके समकक्ष माना जा सकता है। कुम्हार, धोबी, बुद्धिजीवी वर्ग जैसे सामाजिक समूह सर्वत्र हैं। लेकिन दूसरे देशों में वे असंगठित तथा ऐच्छिक समूह हैं, जबकि भारत में संगठित एवं अनिवार्य समूह हो गए हैं, अर्थात् वे जाति बन गए हैं, क्योंकि दूसरे देशों में सामाजिक समूहों को कोई नाम नहीं दिया जाता, जबकि भारत में उनको नाम दिया गया है। यही नाम जाति है जो सनातन बन जाती है। यह नाम ही है, जो यह बताता है कि उसके कौन-कौन से सदस्य हैं और अधिकांश मामलों में किसी जाति में पैदा हुआ व्यक्ति उस जाति के नाम को ही अपने नाम के आगे उपनाम के रूप में लगाता है। पुनः यह नाम ही है जो किसी जाति के लिए सरल बना देता है कि वह अपने विधि-विधान को लागू कर सके। इससे दो प्रकार की सरलता होती है। पहली तो यह है कि जिस व्यक्ति के नाम के सामने उपनाम के रूप में उसकी जाति का नाम है अपराध करने पर वह पकड़ा जाता है, क्योंकि इससे यह पता चल जाता है कि वह अन्य जाति का नहीं है और इस प्रकार वह जाति के न्यायाधिकार से नहीं बच पाता। दूसरे अपराध करने वाले व्यक्ति का पता चल जाता है तथा उस जाति का पता चला जाता है, जिस जाति के न्याय-क्षेत्र के अंतर्गत वह आता है, ताकि जाति के निमयों को भंग करने के लिए उसे आसानी से पकड़ा जा सके और दंडित किया जा सके।

जाति का यही मतलब होता है। अब हम जाति प्रणाली पर आते है। इसमें विभिन्न जातियों के बीच आपसी संबंधों का अध्ययन शामिल है। जाति में जमघटों को देखने पर पता चलता है कि जाति-प्रणाली कई विशेषताओं को प्रस्तुत करती है, जो दिन

के उजाले की तरह दमकते हैं। पहले तो इस प्रणाली को बनाने वाली विभिन्न जातियों के बीच कोई परस्पर संबंध नहीं है। प्रत्येक जाति पृथक तथा विशिष्ट है। प्रत्येक जाति अपने आंतरिक क्रियाकलापों को करने तथा जातिगत व्यवस्थाओं को लागू करने के लिए स्वतंत्र तथा प्रभुसत्ता संपन्न है। ये जातियां एक दूसरे से जुड़ी तो हैं; पर उनमें अंतरंग संबंध नहीं हैं। दूसरी विशेषता उस व्यवस्था से संबंधित है, जिसके अंतर्गत इस प्रणाली में एक जाति का दूसरी जाति के साथ संबंध होता है। क्रम समस्तर न होकर ऊर्ध्वाकार है। जाति और जातिप्रथा ऐसी है। प्रश्न यह है कि क्या यह हिंदू समाज-संगठन को जानने के लिए पर्याप्त हैं? हिंदू समाज की जड़ता ही जाति प्रथा का मूल है, इसी का उल्लेख पर्याप्त है। इन तथ्यों के अलावा और अधिक जानने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि हिंदू जातियों में बंटे हुए है और ये जातियां इस प्रणाली का जाल हैं जिसमें सभी एक धागे से लटके हुए हैं, जो इस प्रणाली में इस तरह से गुथा हुआ है किसी एक जाति को दूसरी जाति से अलग करते समय यह सभी को बंध लेता है मानों यह टेनिस की गेंदों की माला हो। लेकिन जाति के गतिशील स्वरूप को समझने के लिए यह पर्याप्त नहीं होगीं। किसी जाति के क्रियाकलाप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि जाति-प्रणाली के अलावा जाति की दूसरी विशेषता-वर्ण व्यवस्था को समझा जाए।

जाति तथा वर्ण का अंत:संबंध अत्यंत विसादास्पद रहा है। कुछ कहते हैं कि जाति वर्ण के समकक्ष है और उन दोनों में कोई अंतर नहीं है। अन्य का विचार है कि जातियों का अभिप्राय: वर्ण के अभिप्राय: से मूल रूप से पृथक है। यह जाति प्रथा का वह पहलू है, जिसके बारे में और अधिक बाद में बताया जाएगा। अभी तो उस जाति-प्रणाली पर बल देना आवश्यक है, जिसके बारे में अभी तक कुछ नहीं कहा गया। वह यह है कि यद्यपि जाति पृथक है और वर्ण की संकल्पना के विरुद्ध है, तथापि जाति-प्रणाली जाति से पृथक एक ऐसी वर्ण व्यवस्था को मान्यता देती है, जो कुछ-कुछ उल्लिखित वर्गीकृत प्रतिष्ठा से भिन्न है। जैसे कि हिंदू कई जातियों में बंटे हुए हैं, जातियां भी उप-जातियों में बंटी हुई हैं। हिंदू, जाति के प्रति सावधान होता है। वह वर्ण के प्रति भी कठोर होता है। वह जाति के प्रति कठोर है या वर्ण के प्रति कठोर है, यह उस जाति पर निर्भर करता है, जिसके साथ उसका संघर्ष होता है। यदि जिस जाति के साथ उसका विवाद होता है और वह ऐसी जाति के जिसके अंतर्गत वह आता है, जिसका कि वह सदस्य है, तो वह जाति के प्रति सचेत होता है। यदि वह जाति उस वर्ण के बाहर की है जिसका कि वह सदस्य है, ऐसे समय वह वर्ण के प्रति जागरूक हो जाती है। यदि कोई इस संबंध में साक्ष्य चाहता है तो उसे मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी में गैर-बाह्मण आंदोलन का अध्ययन करना होगा। इस प्रकार के अध्ययन से कोई संदेह नहीं रहेगा कि एक हिंदू के लिए जाति की

परिधि भी उतनी ही वास्तविक है, जितनी कि वर्ण की परिधि, और जाति-भाव उतनी ही वास्तविक है जितना कि वर्ण-भेद।

कहा जाता है कि जाति वर्ण-व्यवस्था का विस्तार है। बाद में बताऊंगा कि वह बकवास है। जाति वर्ण का विकृत स्वरूप है। यह विपरीत दिशा में प्रसार है। जात-पात ने वर्ण-व्यवस्था को पूरी तरह विकृत कर दिया है, लेकिन इसने जाति प्रथा वर्ण-व्यवस्था से अपनाई है। वास्तव में वर्ग-जाति प्रणाली वर्ण-प्रणाली के वर्ण-वैदीर्ण्य का निकटता से अनुसरण करती है।

इस दृष्टिकोण से जाति प्रणाली पर दृष्टि डालते हुए वर्ग-वैदीर्ण्य की हम कई रेखाओं को देखते है जो जातियों के एक पिरामिड से होकर गुजरती है और इस पिरामिड को जाति के ब्लॉकों में विभक्त करती हैं। वैदीर्ण्य की पहली रेखा विभाजन की उस रेखा का अनुसरण करती है जो प्राचीन चातुर्वर्ण्य प्रणाली में पाई जाती है। चातुर्वर्ण्य की प्राचीन प्रणाली में पहले तीन वर्णो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों और शूद्र नामक चौथे वर्ण के बीच स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। पहले तीन वर्ण धर्म, संस्कार-संपन्न वर्ग थे। शूद्र को अब अधर्म संस्कार-सम्पन्न माना जाता है। यह अंतर इस तथ्य पर आधारित है कि पहले वाले यज्ञोपवीत धारण करने तथा वेदों का अध्ययन करने के हकदार थे। शूद्र न तो यज्ञोपवीत धारण कर सकते थे, न ही वेदों का अध्ययन कर सकते थे। यही कारण है कि उसे अब अधर्म संस्कार संपन्न वर्ग माना जाता है। वैदीर्ण्य की यह रेखा अब भी विद्यमान है और वह आज के वर्ण विभाजन का आधार है जो उन जातियों को जो शूद्रों के बहुत बड़े वर्ग से पैदा हुई है और उनको जो ब्राह्मण तथा क्षत्रियों तथा वैश्यों के तीन वर्गों से पैदा हुए हैं, अलग करती है। वर्ग-वैदीर्ण्य की यह रेखा ही है जो उच्च जाति तथा निम्न जाति जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त होती है और जो उच्च वर्ग जाति तथा निम्न वर्ग जाति का संक्षेपण है।

वर्ग-वैदीर्ण्य की इस रेखा के बाद इस पिरामिड से होकर वैदीर्ण्य की एक दूसरी रेखा भी गुजरती है। यह रेखा निम्न वर्ग की जातियों से ठीक नीच होती है। यह चारों वर्गो से उत्पन्न जातियों के नीचे तथा निम्न जाति, जिन्हें मैं मात्र 'शेष' कहूंगा उसके ऊपर से गुजरती है। वर्ग-वैदीर्ण्य की यह रेखा पुनः वास्तविक है और सुपरिभाषित विशिष्टतायुक्त है जो कि चातुर्वर्ण्य प्रणाली का मौलिक सिद्धांत है। जैसा कि बताया गया है कि चातुर्वर्ण्य प्रणाली चारों वर्गों के बीच अंतर स्थापित करती थी, जिसमें तीन वर्णों को चौथे वर्ण के ऊपर माना जाता था। लेकिन इससे चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत आने वाले तथा चातुर्वर्ण्य के बाहर आने वाली जातियों के बीच भी इतना ही स्पष्ट अंतर किया है, जो चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत होते थे, उच्च या निम्न, ब्राह्मण या शूद्र, उन्हें सर्वण कहा जाता था, अर्थात् वे लोग जिन पर वर्ण की छाप होती थी। जो

चातुर्वर्ण्य के बाहर होते थे उन्हें अवर्ण कहा जाता था, अर्थात् जिन पर वर्ण की कोई छाप नहीं लगी होती थी। इन चारों वर्णों से पैदा हुई सभी जातियां सवर्ण हिंदू कही जाती हैं, जिनको अंग्रेजी में '*कास्ट हिंदू*' (हिंदू जाति) कहते हैं। 'शेष' को अवर्ण कहा जाता है जिनकी कि अभी बातचीत चल रही है और जिन्हें यूरोपियन 'नॉन कास्ट हिंदू' के नाम से पुकारते हैं, अर्थात् वे लोग जो इन चारों मूल जातियों का वर्णों की परिधि से बाहर हैं।

जो कुछ भी जाति प्रणाली के बारे में लिखा गया है, उसमें अधिकांशतः सवर्ण हिंदुओं की जाति-प्रणाली का ही उल्लेख है। अवर्ण हिंदुओं के बारे में न के बराबर जानकारी है। ये अवर्ण हिंदु कौन हैं, हिंदू समाज में उनकी ओर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है। मुझे विश्वास है कि इन प्रश्नों पर विचार किए बिना कोई भी हिंदू समाज-संरचना की सही तस्वीर का आकलन नहीं कर सकता, जिसका हिंदूओं ने निर्माण किया है। सवर्ण हिंदुओं तथा अवर्ण हिंदुओं के बीच वर्ण वैदीर्ण्य को छोड़ देना ठीक ग्रिम की परी कथाओं के समान होगा, जिसमें डायनों, बेतालों तथा पिशाचों को छोड़ दिया गया है।

अवर्ण हिंदुओं में तीन सम्मिलित हैं।

(अपूर्ण)

अनुक्रमणिका

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
DR. AMBEDKAR FOUNDATION

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
MINISTRY OF SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
भारत सरकार
GOVERNMENT OF INDIA

☎ 23320571
23320589
23320576
FAX : 23320582

निदेशक
DIRECTOR

15, जनपथ,
15, JANPATH
नई दिल्ली - 110001
NEW DELHI-110001

दिनांक – 31.10.2019

रियायत नीति (Discount Policy)

सक्षम प्राधिकारी द्वारा यह निर्णय लिया गया है कि पहले के नियमों के अनुसार CWBA वॉल्यूम के संबंध में रियायत नीति (Discount Policy) जारी रखें। तदनुसार, CWBA इंग्लिश वॉल्यूम (डिलक्स संस्करण–हार्ड बाउंड) के एक पूर्ण सेट की कीमत और CWBA हिंदी वॉल्यूम (लोकप्रिय संस्करण–पेपर बाउंड) के एक पूरे सेट की कीमत निम्नानुसार होगी :

क्र.सं.	सीडब्ल्यूबीए सेट	रियायती मूल्य प्रति सेट
	अंग्रेजी सेट (डिलक्स संस्करण) (वॉल्यूम 1 से वॉल्यूम 17)– 20 पुस्तकें।	रू 2,250/–
	हिंदी सेट (लोकप्रिय संस्करण) (खंड 1 से खंड 40 तक)– 40 पुस्तकें।	रू 1073/–

2. एक से अधिक सेट के खरीदारों को सेट की मूल लागत (Original Rates) यानी रू 3,000/–(अंग्रेजी के लिए) और रू 1,430/–(हिंदी के लिए) पर छूट मिलेगी जो कि निम्नानुसार है।

क्र.सं.	विशेष	मूल लागत पर छूट का प्रतिशत
	रू 1000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	10%
	रू 1001–10,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	25%
	रू 10,001–50,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	33.3%
	रू 50,001–2,00,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	40%
	रू 2,00,000/– से ऊपर की पुस्तकों की खरीद पर	45%

3. इच्छुक खरीदार प्रतिष्ठान की वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in पर विवरण के लिए जा सकते हैं। संबंधित CWBA अधिकारी / पीआरओ को स्पष्टीकरण के लिए दूरभाष नंबर 011–23320588, पर कार्य दिवसों में पूर्वाह्न 11:30 बजे से शाम 5:30 बजे तक संपर्क किया जा सकता है।

(देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

ISBN (सेट) : 978-93-5109-149-3

रियायत नीति के अनुसार
सामान्य (पेपरबैक) खंड 01-40
के 1 सेट का मूल्य : ₹ 1073/-

प्रकाशक :

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार
15, जनपथ, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571
जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588
वेबसाइट : http://drambedkarwritings.gov.in
ईमेल : cwbadaf17@gmail.com